

जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2529

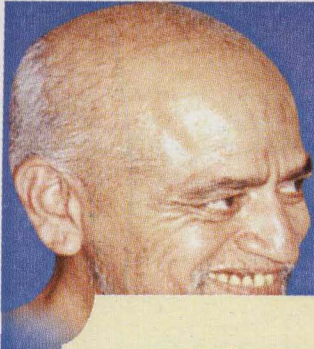
भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि पावापुरी



आश्विन-कार्तिक, वि.सं. 2059

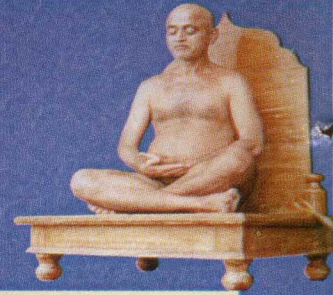
अक्टूबर-नवम्बर 2002

संयुक्तांक



गुरु-गरिमा

आचार्य श्री विद्याभागर जी



जब तक उपासक स्वयं उपास्य नहीं बन जाता तब तक उसे उपास्य की उपासना करना आवश्यक है। जिस तरह पिता बच्चे के समान धीमी चाल से चलकर उसे चलना सिखाता है उसी प्रकार गुरु, शिष्य जनों को मोक्ष मार्ग में चलना सिखाता है। यद्यपि बच्चा चलता अपने पैरों से है, तथापि पिता की अँगुली उसे सहायक होती है। शिष्य मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति स्वयं करता है परन्तु गुरु की अँगुली, गुरु का इंगित उसे आगे बढ़ने में सहायक होता है।

गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सिद्ध तो बोलते नहीं, साक्षात् अरहंत बोलते हैं, उनका इस समय अभाव है। स्थापना निक्षेप से अरहंत हैं, परन्तु अचेतन होने के कारण उनसे शब्द निकलते नहीं हैं। अतः मोक्ष मार्ग में गुरु ही सहायक सिद्ध होते हैं। मार्ग चलते समय यदि कोई बोलने वाला साथी मिल जाता है तो मार्ग चलना सरल हो जाता है। गुरु-निर्ग्रन्थ साधु, हमारे मोक्ष मार्ग के बोलने वाले साथी हैं। इनके साथ चलने से मोक्ष का मार्ग भी सरल हो जाता है।

अरहंत भगवान् के समवशरण में गणधर होते हैं, वे गुरु ही कहलाते हैं। नयविवक्षा से कहा जाए तो देव और गुरु में अन्तर नहीं है। चार और पाँच में क्या अन्तर है? आप कहेंगे एक का अन्तर है, पर एक का अन्तर तो तीन और पाँच के बीच में होता है, चार और पाँच के बीच में नहीं।

**अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥**

जिसने अज्ञानरूप तिमिर से अन्धे मनुष्यों का चक्षु ज्ञानरूपी अञ्जन की सलाई से उन्मीलित कर दिया है उस गुरु के लिए नमस्कार हो। नेत्रदान महादान कहलाता है, जिस गुरु ने अन्तर का नेत्र खेल दिया है उसकी महिमा कौन कह सकता है?

जिस प्रकार दिशाबोधक यंत्र सही दिशा का बोध कराता है। विषयभोग की दिशा सही दिशा नहीं है, उसका बोध कराने वाला कुगुरु कहलाता है। और जो सिद्ध गति का मार्ग दिखलाता है वह सुगुरु है। हमें भावना रखनी चाहिए कि ऐसे सुगुरु सदा हमारे हृदय में निवास करें। वीतराग गुरु ही शरणभूत हैं। रागी-द्वेषी गुरु स्वयं संसार के गर्त में पड़े हुए हैं, वे दूसरे का उद्धार क्या करेंगे।

संसार के प्राणी भेड़ के समान होते हैं। वे विचार किये बिना ही दूसरे का अनुसरण करने लगते हैं। परन्तु गुरु विवेक मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। गुरु कुटुम्ब ममत्तारूपी महागर्त से भव्यप्राणी को हाथ का सहारा देकर बाहर निकालते हैं।

समन्तभद्र आचार्य ने गुरु का लक्षण बताया है:-

**विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥**

जो विषयों की आशा से रहित है, आरम्भ से रहित है परिग्रह से रहित है तथा ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त रहते हैं, वे तपस्वी गुरु कहलाते हैं। अथवा 'ज्ञानं च ध्यानं च इति ज्ञानध्याने, ते एव तपसी ज्ञानध्यानतपसी तत्र अनुरक्त इति ज्ञानध्यान तपोरक्तः अनुरक्त रहते हैं। स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों उत्कृष्ट तप हैं अतः इनमें अनुरक्त रहने की बात कही गयी है। देखा आपने? यह जीव तपस्वी कब बन सकता है? जब ज्ञान और ध्यान में रँग गया हो। ज्ञान-ध्यान में कब रँगता है प्राणी, जब वह परिग्रह छोड़ देता है। परिग्रह कब छूटता है? जब आरम्भ छूट जाता है। आरम्भ कब छूटता है? जब विषयों की आशा छूट जाती है। तात्पर्य यह है कि तपस्वी या निर्ग्रन्थ गुरु बनने के लिये पञ्चेन्द्रियों के विषयों की आशा को सबसे पहले छोड़ना पड़ता है।

पेट्रोल जाम हो जाने से जब गाड़ी स्टार्ट नहीं होती है तब ड्रायवर उसे धक्का लगवाकर स्टार्ट कर लेता है। गुरु भी तो शिष्यों को धक्के दे-देकर ही आगे बढ़ाते हैं। स्वयंबुद्ध मुनि थोड़े होते हैं, बोधित बुद्ध ज्यादा होते हैं। बोधित बुद्ध वे कहलाते हैं जिन्हें गुरु समझाकर चारित्र के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं। "मातेव बालस्य हितानुशास्ता" गुरु माता के समान हितकारी है। बालक पिता से भयभीत रहता है, वह डरते-डरते उनके पास जाता है। परन्तु माता के पास निर्भय होकर जाता है, उससे अपनी आवश्यकता पूरी कराता है। इसी प्रकार भव्य प्राणी देव के पास पहुँचने में संकोच करता है। साक्षात् अरहंत देव के दर्शन तो कर सकता है, पर उन्हें छू नहीं सकता है। परन्तु गुरु के पास जाने में, उनसे बात करने में कोई संकोच नहीं लगता।

जिस प्रकार कोई कारीगर मकान ईट-चूना लगाकर बनाते हैं और कोई उसे सुसज्जित करते हैं, इसी प्रकार माता-पिता मनुष्य को जन्म देते हैं पर गुरु उसे सुसज्जित कर सब प्रकार की सुविधाओं से पूर्ण करते हैं। गुरु, शिष्य की योग्यता देखकर उसे उतनी देशना देते हैं, जितनी को वह ग्रहण कर सकता है। माँ ने लड्डू बनाये, बच्चा कहता है, मैं तो पाँच लड्डू लूँगा। माँ कहती है कि लड्डू तेरे लिये ही बनाये हैं, पर तुझे एक लड्डू मिलेगा क्योंकि तू पाँच लड्डू खा नहीं सकता। बच्चा कहता है तुम तो पाँच-पाँच खाती हो, मुझे क्यों नहीं देती, क्या मेरे पेट नहीं है? माँ कहती है पेट तो है, पर मेरे जैसा बड़ा तो नहीं है। तात्पर्य यह है कि माँ बच्चे को उसके ग्रहण करने योग्य ही लड्डू देती है, अधिक नहीं। आप लोग जितना ग्रहण करते हैं उतना हजम कहाँ करते हैं, हजम कर सको उसे जीवन में उतार सको, तो एक दिन की देशना से ही काम हो सकता है। □

जिनभाषित

मासिक

अक्टूबर-नवम्बर 2002

संयुक्तांक

वर्ष 1, अङ्क 9-10

सम्पादक

प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

137, आराधना नगर,
भोपाल- 462003 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-776666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया
पं. रतनलाल बैनाड़ा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती'

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कैवरीलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल्लस लि.)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश राणा, जयपुर

द्रव्य-औदार्य

श्री गणेशप्रसाद राणा
जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-351428, 352278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	500 रु.
वार्षिक	100 रु.
एक प्रति	10 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ प्रवचन
 - गुरु-गरिमा : आचार्य श्री विद्यासागर जी आवरण पृष्ठ 2
- ◆ आपके पत्र : धन्यवाद 2
- ◆ सम्पादकीय : महासभा का प्रस्ताव दुर्भावनापूर्ण 3
- ◆ बिजौलिया कमेटी का भर्त्सना-प्रस्ताव 3
- ◆ भोपाल में जैन ग्रन्थों की नकल पर विवाद : प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन 5
- ◆ लेख
 - श्रमण संस्कृति में..... सल्लेखना : मुनिश्री विशुद्ध सागर जी 7
 - जन्म से लेकर समाधि तक वर्णी जी : ब्र. त्रिलोक जैन 10
 - चातुर्मास में बरसी चौदह रत्न मणियाँ : डॉ. विमला जैन 11
 - उपवास : स्व.पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार 12
 - श्रावक और सम्यक्त्व : डॉ. श्रेयांसकुमार जैन 14
 - नारी-लोक : धर्ममाता चिरोंजाबाई : डॉ. आराधना जैन 'स्वतंत्र' 17
 - भगवान् महावीर की जन्मभूमि कहाँ? : प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन 19
 - प्राकृत विद्या : अनपेक्षित विरोधाभास : शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी 22
 - जैसा करोगे वैसा भरोगे : प्रस्तुति : सुशीला पाटनी 26
 - श्री पार्श्वनाथ, ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल, एलोरा : गुलाबचन्द्र हिरामण बोरालकर 29
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 27
- ◆ बालवार्ता: स्वावलम्बन : डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' 4
- ◆ पुराणकथा : बहु दुःखकारी व्यसन जुए का : डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन' 6
- ◆ प्राकृतिक चिकित्सा-मधुमेह का उपचार : डॉ. रेखा जैन 34
- ◆ ग्रन्थ समीक्षा
 - जैनधर्म और दर्शन : पं. निहालचन्द्र जैन, बीना 32
 - 'महायोगी महावीर' : डॉ. विमला जैन 'विमल' 33
- ◆ कविताएँ :
 - गजल : डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय' 18
 - दश वृष की संजीवनी : डॉ. विमला जैन 'विमल' 21
 - घर-घर की दीवारों पर : अशोक शर्मा 31
- ◆ समाचार 36

आपके पत्र, धन्यवाद : सुझाव शिरोधार्य

‘जिनभाषित’ सितम्बर 2002, पृष्ठ 2, सम्पादकीय “वैराग्य जगाने के अवसरों का मनोरंजनीकरण” पृष्ठ-2 “भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा” स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार “युगवीर”। उपर्युक्त लेख प्रशंसनीय हैं, अनुकरणीय हैं, जिनागमोक्त हैं। परन्तु वर्तमान में क्या कोई भी इनको पालन कर पा रहा है? यदि नहीं, तो फिर मात्र कागजी कार्यवाही ही तक सीमित हैं।

हजारी लाल जैन

5/448, नाई की मंडी, आगरा

हम आपकी पत्रिका के नियमित सदस्य हैं। आपकी पत्रिका वास्तव में बहुत रोचक, धार्मिक और गुरुभक्ति से परिपूर्ण है। इसमें आचार्यश्री के लेख आदि सामग्री को बहुत ही अच्छे से समाहित किया जाता है।

यह पत्रिका इसी वजह से छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री माननीय अजीत जोगी को बहुत पसंद आई। जुलाई माह की पत्रिका जिसमें आचार्यश्री का दीक्षा दिवस विशेषांक था, उन्होंने अपने पास रख ली और यह भी कहा कि यह पत्रिका मुझे नियमित भेजें।

अतः आपसे निवेदन है कि आप यह पत्रिका प्रतिमाह “मुख्यमंत्री छत्तीसगढ़ शासन” के नाम से अवश्य प्रेषित करें।

प्रकाश मोदी

जयस्तम्भ चौक, भाटापारा (छ.ग.)

आपकी विचारपूर्ण उपयोगी पत्रिका “जिनभाषित” का सितम्बर अंक आज ही मिला है। इसमें विद्वान श्रेष्ठी पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया का प्रेरणास्पद लेख “.... और मौत हार गई” पढ़ा। इस लेख में हुई एक तथ्यात्मक भूल की ओर मैं आपका और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

पंडितजी ने लिखा है कि “आचार्य जी पर प्रथम बार मौत का आक्रमण सतना में हुआ।” यह सही नहीं है। मुझे आचार्यश्री के दर्शन करने और उनसे कुछ चर्चा करने का अवसर सन् 1974 के चातुर्मास में सोनीजी की नसिया, अजमेर में मिल चुका था। मैं आचार्यश्री से बहुत प्रभावित था अतः उनके सतना प्रवेश के तीन दिन पूर्व से, सतना प्रवास के आठ दिन तक और सतना से प्रस्थान के बाद भी दस दिन तक इस प्रकार कुल इक्कीस दिन मैं प्रायः

आचार्यश्री के चरण सान्निध्य में ही रहा। उस समय मैं सतना जैन समाज का मंत्री था। अतः व्यवस्थाओं की बहुत कुछ जिम्मेदारी भी मेरी थी।

उन इक्कीस दिनों में पूज्य आचार्यश्री का स्वास्थ्य बिलकुल ठीक रहा, प्रायः प्रतिदिन उनके प्रवचनों का लाभ भी इस क्षेत्र की जनता ने लिया था। सतना की गजरथ स्मारिका में और कुछ जैन पत्रों में मेरा एक संस्मरणात्मक लेख आचार्यश्री के विषय में छपा था, उसमें इन इक्कीस दिनों के कार्यक्रम, यात्रा और अनेक प्रभावक घटनाओं का विस्तृत वर्णन है।

आचार्यश्री पर बुखार का उपसर्ग कटनी पहुँचकर हुआ था, तुरंत टेलीफोन से भाईसा. नीरज जी के लिये बुलावा आया था, वे कई दिनों तक सेवा में रहे, मैं भी दो बार देखने के लिए वहाँ गया था। उस समय और बुखार के दूसरे उपसर्ग के समय नैनागिरि में तीव्र शारीरिक वेदना के होते भी आचार्यश्री की दृढ़ता मैंने भी देखी है। रोग के तीसरे उपसर्ग के समय मैं थूबौनजी नहीं पहुँच सका, क्योंकि उस समय खजुराहो क्षेत्र पर एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था, जिसमें माननीय साहू अशोक जी, साहू रमेशजी, प्रदेश के मुख्यमंत्री आदि अनेक विशिष्ट अतिथि आये थे। उन अतिथियों के स्वागत और कार्यक्रम के संचालन का दायित्व श्री नीरजजी पर था परंतु वे आचार्यश्री की अस्वस्थता के समाचार मिलते ही थूबौनजी चले गये थे और उनका दायित्व मुझे निर्वहन करना पड़ा था। मैं बाद में थूबौनजी पहुँच सका।

चौथे रोग उपसर्ग का समाचार ही मुझे नहीं मिल पाया था और पाँचवाँ हरपीज रोग का उपसर्ग जब आचार्यश्री पर हुआ तो मैं पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी के पास था, उस समय वे भी अस्वस्थ थे। वह काल ही कुछ ऐसा था। उन दिनों हमारे चार आचार्य महाराज रोग के उपसर्ग सहन कर रहे थे। हरपीज रोग की पीड़ा का मैं भुक्तभोगी था, अतः आचार्यश्री की पीड़ा का अनुमान करते ही आँखें नम हो जाती थीं और कहीं बैठकर उनके स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हुए णमोकार मंत्र की एक माला फेर लेता था।

निर्मल जैन, सुषमा प्रेस परिसर, सतना

वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नरः।

पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पित कायवत्॥

भावार्थ- जो मनुष्य कल्याणकारी वचनों को कहता है, अथवा सुनता है वास्तव में वही मनुष्य है, बाकी तो शिल्पकार के द्वारा बनाये हुये मनुष्य के पुतलों के समान हैं।

गुणदोषसमाहारे गुणान् गृह्णन्ति साधवः।

क्षीरवारिसमाहारे हंसः क्षीरमिवाखिलम्।

भावार्थ- जिस प्रकार दूध और पानी के समूह में से हंस समस्त दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सत्पुरुष गुण और दोषों के समूह में से गुणों को ही ग्रहण करते हैं।

पद्मपुराण

महासभा का प्रस्ताव दुर्भावनापूर्ण

दि. 18 अगस्त, 2002 को उदयपुर (राजस्थान) में भारतवर्षीय दि. जैन (धर्मसंरक्षणी) महासभा का अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें कुछ प्रस्ताव पारित किये गये (देखिए- 'जैनगजट' 5 सितम्बर, 2002)। प्रस्ताव क्र. 2 में कहा गया है कि बिजौलिया (राजस्थान)के नवनिर्मित मन्दिर में आचार्य श्री वर्धमानसागर जी के तत्त्वावधान में प्रतिष्ठित जिनबिम्ब और शासनदेवी-देवताओं की मूर्तियों को कुछ लोगों ने उनके स्थान से हटाकर अन्यत्र स्थापित कर दिया है, जो उनका निरादर है। प्रस्ताव में इस कार्य को द्वेषपूर्ण, समाज में उत्तेजना पैदा करने वाला और विघटनकारी कहा गया है तथा उन मूर्तियों को यथास्थान स्थापित करने की माँग की गई है।

इस प्रस्ताव में जिनबिम्बों को अपने स्थान से हटाने का जो आरोप लगाया गया है, वह सर्वथा मिथ्या है। कोई भी जिनबिम्ब अपने प्रतिष्ठित स्थान से नहीं हटाया गया। शासन देवी-देवताओं (पद्मावती-क्षेत्रपाल) की मूर्तियाँ सन् 1998 में सम्पन्न प्रतिष्ठा के समय समाज के घोर विरोध के बावजूद हठात् स्थापित की गई थीं। वास्तुशास्त्र के अनुसार इन मूर्तियों का स्थान उचित नहीं था। अतः इस वर्ष (सन् 2002 में) बिजौलिया में मुनिसंघ के चातुर्मास हेतु आने के बहुत पहले ही समाज के आग्रह पर श्री पार्श्वनाथ दि.जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी बिजौलिया ने पद्मावती और क्षेत्रपाल की उक्त मूर्तियाँ उस स्थान से हटाकर उचित स्थान पर स्थापित कर दीं, जिससे वास्तुशास्त्रीय दोष दूर हो गया।

यह कार्य सराहना के योग्य है, किन्तु महासभा ने एक सराहनीय कार्य की भर्त्सना की है। उसका यह कृत्य द्वेष एवं दुर्भावना से प्रेरित है। महासभा की यह द्वेषपूर्ण प्रवृत्ति, न केवल स्वयं के अस्तित्व के लिए घातक है, अपितु सम्पूर्ण जैन समाज एवं जिनतीर्थ को विनाश के कगार पर ले जाने वाली है। अतः उससे विनम्र अनुरोध है कि वह अपनी प्रवृत्ति को बदलकर सृजनात्मक बनाने का प्रयास करे, जिससे जैन समाज और जिनतीर्थ उन्नति और समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हों।

बिजौलिया तीर्थक्षेत्र कमेटी ने एक प्रस्ताव पारित कर महासभा के उक्त प्रस्ताव की भर्त्सना की है, जो आगे उद्धृत किया जा रहा है।

रतनचन्द्र जैन

बिजौलिया कमेटी का भर्त्सना प्रस्ताव

बिजौलिया, दि. 14 सितम्बर, 2002 श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी बिजौलिया जिला-भीलवाड़ा (राज.)।

अतिशय तीर्थक्षेत्र के सम्बन्ध में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षणी) महासभा द्वारा दिनांक 18.8.2002 को उदयपुर में आयोजित साधारण सभा द्वारा पारित तथा दिनांक 6.9.2002 के जैन गजट वर्ष 106 अंक चालीस पृष्ठ 5 पर प्रकाशित धार्मिक उन्माद एवं समाज को भ्रमित करने वाले इस प्रस्ताव की हमारी तीर्थक्षेत्र कमेटी सर्व-सम्मति से पुरजोर भर्त्सना एवं कड़ी निन्दा करती है।

प्रस्ताव की द्वेषपूर्ण भाषा एवं उसमें अन्तर्निहित स्वार्थों पर प्रबंध समिति के सदस्यों ने रोष प्रकट किया। सदस्यों ने कहा कि हम सब जैन धर्मानुयायी हैं एवं अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सांस्कृतिक धरोहर इस प्राचीन तीर्थ का विकास कर रहे हैं।

यहाँ पर उन व्यक्तियों का, समितियों का, संस्थाओं का स्वागत है जो तीर्थक्षेत्र के विकास में रुचि रखते हैं, लेकिन महासभा कुछ वर्षों से अपने कार्यों की प्रशंसा तथा दूसरों द्वारा किये गये अच्छे कार्यों का छिद्रान्वेषण (निन्दा) करती है। अतः तीर्थ क्षेत्र कमेटी की दृष्टि में यह पूरी तरह अवांछित, असामाजिक एवं

शान्तिभंग करने वाली संस्था बन चुकी है। यह सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्र कमेटी संतों के अशीर्वाद, विद्वानों के परामर्श एवं सम्पूर्ण धर्ममय विवेक से इस तीर्थक्षेत्र का रख-रखाव करती है। इसी समिति को जिनबिम्बों का निरादर करने वाली बताना तथा शासन देवी-देवताओं को उनके यथायोग्य स्थान पर विराजमान करने को आगम विरुद्ध, उत्तेजना एवं द्वेषपूर्ण बताना महासभा का निन्दनीय एवं समाज को भ्रमित करने वाला दुष्कृत्य है, जिसकी जितनी भी निन्दा एवं भर्त्सना की जाये उतनी ही कम है।

महासभा और उसके तथाकथित नेता अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार सेठी भले ही तीर्थसंरक्षण महासभा के नाम पर अनर्गल प्रलाप करते रहें; किन्तु उन्हें वास्तविक जीर्ण-शीर्ण, नष्ट होते तीर्थक्षेत्रों के विकास में नाम-मात्र की भी रुचि नहीं है। उन्होंने इस ऐतिहासिक तीर्थक्षेत्र बिजौलिया के विकास में कभी रुचि नहीं ली तथा न ही कभी किसी प्रकार का सहयोग किया, बल्कि मुख्य पदाधिकारी द्वारा पंचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव में मुख्य कलश लेकर उसका चेक पेमेन्ट रुकवा दिया, जो आज तक बकाया है। वे तो महासभा को वहाँ पर ले जाते हैं जहाँ उनके नेतृत्व के अहम् की पूर्ति होती रहती है। पूर्व में भी श्री निर्मलकुमार सेठी ने इस

क्षेत्र में अराजकता का उन्माद फैलाने का प्रयास किया, जिसका तीर्थक्षेत्र कमेटी ने करारा जवाब दिया था। हो सकता है इस प्रस्ताव के पीछे उनकी उस समय का बदला लेने की भावना रही हो।

हमारे समाज ने धराशायी, उजड़े हुए तीर्थक्षेत्र को प्राणों की बाजी लगाकर तेरह वर्ष तक संघर्ष कर बचाया है तब हमारी सहायता करने कोई भी नहीं आया। आज जब इस क्षेत्र का विकास हो रहा है तो विकास में सहयोग करने के बजाय महासभा तीर्थक्षेत्र कमेटी को समाज में भ्रमित करने पर तुली हुई है।

अंशाति फैलाने वाले उनके कथित नेता श्री बसंतीलाल चौधरी, भीलवाड़ा के भ्रामक प्रस्ताव पर विचार करने से पूर्व तीर्थक्षेत्र कमेटी से सम्पर्क कर उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये थी। जानकारी प्राप्त करने के बजाय महासभा ने प्रस्ताव पारित कर अपने द्वेष एवं अहम् की मात्र तुष्टि करनी चाही है।

महासभा समाज को भले ही भ्रमित करना चाहे पर इसमें सफल नहीं हो सकेगी, क्योंकि तीर्थक्षेत्र पर आने वाले हजारों

तीर्थ यात्री यहाँ के विकास कार्यों की सराहना कर रहे हैं एवं तन-मन-धन से सम्पूर्ण सहयोग भी कर रहे हैं।

महासभा के तथाकथित कर्णधार श्री निर्मलकुमार सेठी की अध्यक्षता में पारित दुर्भावनापूर्ण प्रस्ताव से हमारे क्षेत्र के सम्पूर्ण समाज में रोष व्याप्त है। हमारे क्षेत्र के पूरे समाज ने महासभा के इस दुष्कृत्य को तीर्थक्षेत्र की गरिमा को ठेस पहुँचाने वाला माना है।

हमारे यहाँ सभी कार्य सर्व-सम्मति से होते हैं, हम पूछना चाहते हैं कि महासभा ने बिजौलिया क्षेत्र के विकास के लिये क्या किया? यदि विकास में सहयोग नहीं कर सकते तो विकास कार्यों में बाधा उत्पन्न नहीं करें। आशा है सेठीजी एवं उनकी महासभा को सद्बुद्धि प्राप्त होगी।

मंत्री

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी
बिजौलिया जिला-भीलवाड़ा (राज.)

बाल वार्ता

स्वावलम्बन

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

“अति संग्रह पाप का कारण है इसमें एक ओर जहाँ तन-मन उलझा रहता है वहीं, संगृहीत पदार्थों के उपयोग से दूसरे प्राणी भी वंचित रह जाते हैं,” यह सोचकर नगर सेठ धनीराम ने अपनी संगृहीत वस्तुओं-धनादिक को गरीबों में बाँटना प्रारम्भ कर दिया। यह क्रम वर्षों तक चला। जरूरतमंद आते गये और धनीराम से प्राप्त धन लेकर अपने को उपकृत करते रहे। अन्त में जब सब कुछ समाप्त हो गया तो साथ में एक थाली, एक लोटा और एक लँगोटी धारण करके वे वनवासी हो गये।

कहने को तो धनीराम के पास अत्यल्प परिग्रह था, किन्तु उन्हें लँगोटी धोने और बर्तन माँजने में टीस होती। वे सोचते-“काश, इनका भी कोई विकल्प होता तो सुख से रहते?” बहुत विकल्पों पर विचार किया, किन्तु किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे।

एक दिन जब धनीराम नदी पर स्नान कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक ग्वाले का लड़का आया और नदी किनारे हाथ पर रोटियाँ रखकर खाने लगा। जब रोटियाँ खा चुका तो चुल्लू से नदी का जल पी लिया। ऐसा करते समय बालक के चेहरे पर बड़ा तृप्ति का भाव था, मानो संसार में ऐसी कोई निधि नहीं है जो इस समय उसके पास न हो।

यह देखकर धनीराम ने विचार किया कि भोजन करने मात्र के लिए यह लोटा, थाली का परिग्रह रखना उचित नहीं। भोजन तो हाथ में लेकर भी किया जा सकता है और पानी पीने के लिए हाथ की अँजुलि पर्याप्त है, उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया और वह थाली-लोटा उसी ग्वाले को दे दिया तथा स्वयं मात्र लँगोटी धारण किय घूमने लगे।

एक दिन उसी वन में एक नग्न दिगम्बर मुनिराज पधारे। जिनके नग्न वेष, निराकुल मन और मुख पर व्याप्त अति तेज देखकर धनीराम उनके सामने आया और जिज्ञासा भाव से उनके समक्ष बैठ गया। उसे मन ही मन लग रहा था कि यह भी एक रूप है जो कपड़ों का मोहताज नहीं है। तृष्णा, विकार, वासना एवं दोषों को जीतने का आधार यही रूप हो सकता है। इसके बिना स्वावलम्बन कैसा? मुनिदर्शन से ही जिसके मन में सन्तोष का भाव जागृत हुआ है, ऐसा धनीराम मुनिराज के समक्ष नतमस्तक हो नग्नता का कारण पूछने लगा। प्रत्युत्तर में मुनिराज ने उसे बताया कि - “जब व्यक्ति का मन भोगों से उदासीन हो जाता है, इन्द्रियाँ नियंत्रित हो जाती हैं तभी यह विकार रहित बालकवत् स्थिति प्राप्त होती है। मूलतः नग्नता स्वावलम्बन के लिए है। प्रत्येक देहधारी स्वावलम्बन के सहारे आत्मबली एवं आत्मजयी बन सकता है। वत्स! तुम्हें भी यह लँगोटी छोड़कर स्वावलम्बी बनना चाहिए। स्वावलम्बन में ही जितेन्द्रियता है।”

धनीराम के कानों में यह शब्द सुमधुर संगीत की तरह सुनाई दिये। वह तो मन ही मन निश्चय कर ही चुका था, अतः उसने तुरन्त लँगोटी छोड़ दी। उसका लक्ष्य अब वीतरागता थी और उसे पाने के लिए वह उन्हीं मुनिराज के साथ चल पड़ा था आत्मजयी बनने के लिए। कदम-दर-कदम उसे अनुभव हो रहा था कि बाह्य वैभव में सुख नहीं, सुख तो अन्तर में है, नग्नता में है, स्वावलम्बन में है।

एल-65, न्यू इन्दिरा नगर,
ए, बुरहानपुर (म.प्र.)

काम तो अच्छा है, पर नीयत ठीक नहीं लगती

प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, सम्पादक- 'जैन गजट'

भावनगर (सौराष्ट्र) के श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट ने गत तीन वर्षों से प्राचीन जैन ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों के सूचीकरण का कार्य अपने हाथ में लिया हुआ है। अब तक महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में स्थित 81 मन्दिरों के लगभग 35000 ग्रन्थों की सूचियाँ बनाई जा चुकी हैं। 31 मार्च 2003 तक की समयावधि में इस कार्य को पूरा कर लेने की ट्रस्ट की योजना है। यह एक अति व्ययसाध्य प्रोजेक्ट है। ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री हीरालालजी के अनुसार अब तक बारह लाख रुपया खर्च हो चुका है। सम्प्रति प्रति माह 50,000 रुपयों का व्यय हो रहा है। इस तकनीकी कार्य को सम्पन्न करने के लिए डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री (नीमच) को भारी वेतन पर नियुक्त किया गया है। सहयोग के लिए तीन-चार सहायक भी उन्हें दिये गए हैं। सुना है कि इस योजना की पूर्ति के लिए स्व. सेठ शशि भाई ने एक बड़ी निधि ट्रस्ट को दानस्वरूप प्रदान की थी।

यह कौन कहेगा कि यह कार्य अच्छा नहीं है। पहली बार इतने बड़े पैमाने पर इस तरह का नेक कार्य हो रहा है। इससे भारत के सभी जैन मंदिरों में उपलब्ध जैन ग्रन्थों की तालिकाएँ तैयार हो सकेंगी तथा शोधार्थी उनका लाभ उठा सकेंगे। इसी बहाने मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों को व्यवस्थित भी किया जा सकता है। इतना अच्छा कार्य करते हुए भी यदि लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं तो इसके पीछे कुछ कारण तो होने ही चाहिए। प्रारंभ में (श्रुतपंचमी/जून '99 से लगभग डेढ़ वर्ष तक) इन्दौर की लोकप्रिय संस्था 'कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ' की भी इस कार्य में सहभागिता रही, किन्तु बाद में उसने स्वयं को इनसे पृथक् कर लिया। क्यों? कारण शायद यही रहा कि सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की छवि समाज में एक एकान्तपोषक संस्था के रूप में रही है। यह वही संस्था है, जिसने सर्वश्री निहालचन्द्र सोगानी, कहानजीस्वामी, शशिप्रभु, श्रीमद् राजचन्द्र एवं चम्पा बहन की मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा में एक ऐसे अन्दाज में स्थापित की हैं कि लोगों को इनके संन्यासी (अथवा आधुनिक पंच परमेष्ठी) होने का भ्रम हो। ट्रस्ट के मुखपत्र 'स्वानुभूति प्रकाश' में छपे इस चित्र की पिछले दिनों तक चर्चा रही है। व्यक्ति-पूजा की इस प्रवृत्ति ने धर्मभीरु लोगों के मन में सन्देह के बीज बोए हैं।

सोनगढ़-विचारधारा की संस्थाएँ अच्छा कार्य भी करती हैं, तो भी विवाद के घेरे में आ जाती हैं। उसका कारण अतीत के अनुभव ही हैं। इनके अच्छे-से-अच्छे कार्यों में भी कुछ छल तो रहता ही है। भोपाल में चौक बाजार में स्थित पंचायती मन्दिरजी

में मुनिभक्त अध्यक्ष एवं मुमुक्षु उपाध्यक्ष की मौखिक अनुमति लेकर इन्होंने गत 25 सितम्बर को सूचीकरण का कार्य शुरू किया और अगले ही दिन मन्दिर में किसी भक्त या कार्यकर्ता को न पाकर कुछ ग्रन्थों की लेपटॉप और स्केनर की सहायता से फोटो कापी करते हुए पकड़े गए। इसके लिए न तो इन्होंने अनुमति ली थी और न किसी ने इन्हें अनुमति दी थी। यह कार्य कपटपूर्वक किया जा रहा था।

सूचीकरण के साथ ही इन्होंने ग्रन्थों पर अपनी संस्था की सील लगाई तथा संस्था (ट्रस्ट) के नाम के टेग (लेबिल) भी लगाए। (यद्यपि दि. 26 सितम्बर को जारी की गई एक प्रेस विज्ञप्ति में डॉ. देवेन्द्रकुमारजी ने इससे इनकार किया है, लेकिन भोपाल से प्रकाशित 'दैनिक भास्कर' के दिनांक 1 एवं 2 अक्टूबर के अंकों में इसकी पुष्टि की गई है।) डॉ. सा. के दो सहयोगी विद्वानों पं. प्रभातकुमार एवं पं. सुधाकर जैन ने पकड़े जाने पर समाज से लिखित क्षमायाचना करते हुए यह स्वीकार भी किया है कि उनका यह कृत्य अनाधिकृत एवं अवैधानिक था। शास्त्रों पर ट्रस्ट के टेग लगाने तथा ट्रस्ट की प्रिण्ट सूची पर इन ग्रन्थों के रिकार्ड बनाने की बात भी उन्होंने मंजूर की है। **नीयत ठीक न होने पर अब और क्या सबूत चाहिए।**

भोपाल के मुनिभक्तों में इस घटना को लेकर उबाल है। गत 30 सितम्बर, सोमवार को समाज की एक बैठक भी हुई थी, जिसमें लगभग दो हजार धर्मानुरागी तथा अन्य मन्दिरों के अध्यक्ष (सर्वश्री रमेशचन्द्र मनया, पी.पी.जैन, श्रीपाल जैन 'दिवा' आदि) उपस्थित थे। मुनि संघ सेवा समिति के अध्यक्ष श्री अमरचंद अजमेरा तथा महामन्त्री श्री नरेन्द्र वन्दना ने ट्रस्ट के इन वेतनभोगी विद्वानों द्वारा ग्रन्थों के साथ की गई छेड़छाड़ की जानकारी दी। सभा में एकमत से इस अवांछनीय कृत्य की निन्दा की गई।

जब कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इनके साथ सहयोग कर रही थी, तब ग्रन्थों पर लगाए जाने वाले टेगों पर लिखा रहता था- '**जैन साहित्य सूचीकरण परियोजना**'. टेग पर ट्रस्ट और ज्ञानपीठ का नाम नहीं रहता था। यह सही भी था। ज्ञानपीठ के हटते ही टेगों की भाषा बदल गई। अब उन पर लिखा हुआ है- '**सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट के सौजन्य से**'. इस बदलाव के पीछे दुराशय तो झलक ही रहा है। इन तथाकथित वीतरागविज्ञानियों की यह फितरत रही है कि वे पहले से ही भविष्य के मंसूबे बनाकर काम करते हैं। **दस-बीस साल बाद यदि ट्रस्ट यह दावा करे कि भारत के सभी जैन मन्दिरों में सुरक्षित साहित्य का रख-रखाव वही**

करता रहा है तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पहले किसी प्राचीन मन्दिर में स्वाध्याय के लिए स्थान माँगने, फिर धीरे-धीरे उस पर कब्जा जमा लेने और प्रतिरोध होने पर वास्तविक अधिकारियों के विरुद्ध अदालत में केस दायर करने की घटनाएँ हम सबके सामने हैं। किसी भी दिग्म्बर जैन साधु में इनकी श्रद्धा नहीं है। इनके पत्रों में कभी उनके प्रवचन और फोटो नहीं छपते। इनके कुछ अच्छे कार्यों के पीछे भी सदाशयता का अभाव समाज को संकट में डालता रहा है।

महासभा और महासमिति के पदाधिकारीगण इस सन्दर्भ में गम्भीरता से विचार करें। जिन मन्दिरों के ग्रन्थों पर इस ट्रस्ट के नाम वाले टेग लग चुके हैं, उन्हें हटाकर या उनके ऊपर सम्बन्धित मन्दिर के नाम के टेग चस्पा कर देने चाहिए, ताकि बाद में यह

ट्रस्ट अनुचित लाभ न उठा सके। इनकी नीति और नीयत के बारे में पूर्णतः आश्वस्ति प्राप्त कर लेने के बाद ही इन्हें आगे किसी मन्दिर में सूचीकरण की अनुमति देनी चाहिए। जब भी किसी मन्दिर में सूचीकरण का कार्य ये लोग करें, तब उस कार्य की निगरानी करने के लिए मन्दिर के किसी अधिकारी अथवा अधिकृत कार्यकर्ता का वहाँ उपस्थित रहना भी बहुत आवश्यक है, अन्यथा 'सावधानी हटी और दुर्घटना घटी' की कहावत चरितार्थ होती रहेगी।

सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट यदि निष्काम भाव से यह सेवा-कार्य करे तो हर कोई इसका स्वागत करेगा, किन्तु अभी तो समाज की स्थिति 'दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है' जैसी बनी हुई है।

पुराण-कथा

बहु दुःखकारी व्यसन जुए का

प्रस्तुति- डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

एक समय की बात है- भारतवर्ष में एक कुणाल नाम का देश था। इस देश की एक प्रसिद्ध लोकप्रिय नगरी थी श्रावस्ती। इस नगरी का सुकेतु राजा था। यह राजा व्यसनी हो गया था। जुए का व्यसन इतना अधिक था कि वह राज-काज को छोड़ उसी में मस्त रहने लगा था।

जो जुआ खेलता है उसे कालान्तर में मांस और मदिरा भी अच्छी लगने लगती है। वेश्यावृत्ति से भी उसे परहेज नहीं रह जाता। पराजय होने से धनाभाव के समय चोरी करने में भी उसे लाज नहीं आती। विजय होने पर भोगोपभोग अच्छे लगने लगते हैं। शिकार में आनन्द मानने लगता है। अपने पद की गरिमा को भूल जाता है।

जुआ खेलनेवालों की ऐसी हालत देखकर राजा सुकेतु के मंत्री और कुटुम्बियों को चिन्ता हुई। मंत्री कोषागार खाली होने से और कुटुम्बी अपयश से भयभीत हुए। मिलकर सभी ने समझाया परन्तु यह तो चिकना घड़ा था। जैसे चिकने घड़े पर पानी की बूँद नहीं ठहरती, ऐसे ही किसी भी उपदेश का इस पर कोई असर नहीं हुआ। उसने किसी का कहना नहीं माना। अपनी ही धुन में मस्त रहा।

राजा जुआ खेलता ही रहा। यह व्यसन इसे इतना अधिक रुचिकर हो गया कि इसके आगे राज्य-कार्य पर ध्यान की तो दूर स्नान भी इसे अच्छा नहीं लगने लगा। समय पर भोजन न करने की आदत बन गई। रात-रात भर जागरण करने लगा। फल यह निकला कि वह बीमार रहने लगा। इतना सब कुछ होने पर भी इसने जुआ खेलना नहीं छोड़ा। जुए में ही मग्न रहने लगा।

एक दिन जुए में इसकी लगातार विजय हुई। इस विजय ये यह बहुत खुश था। बहुत धन इसके हाथ भी लग जाता था किन्तु तृष्णा जीव की कब शान्त होती है। नीतिज्ञों ने कहा भी

है कि यह देह भले ही मर जावे किन्तु आशा-तृष्णा का अन्त नहीं होता। राजा की धन जीतने की लालसा बढ़ी। उसने हरसंभव यत्न किया आगे और विजय पाने का, किन्तु समय ने करवट बदली। अब उसकी विजय पराजय में बदल गई। फिर भी राजा सचेत नहीं हुआ। मृगतृष्णा में पड़ गया। भूल गया यह कि राजकोष खाली हो रहा है। खेलता रहा और तब तक खेलता रहा जब तक कि वह सब कुछ नहीं हार गया।

हार जाने पर जुआरी या तो उधार माँगकर जुआ खेलता था या धन चुराकर। जब तक उधार मिलता है, चोरी नहीं करता। राज्य हार जाने से सुकेतु का हाल बेहाल हो गया, फिर भी जुआ खेलना बंद नहीं किया। सब कुछ हार जाने से उसने चोरी तो नहीं की किन्तु धन की याचना करते हुए उसे तनिक भी लाज नहीं आई। इसने उधार लेकर भी जुआ खेला, किन्तु सफलता नहीं मिली। हारता ही हारता रहा। देश, राजकोष, सेना ही नहीं यह अपनी रानी को भी जुए में हार गया।

सब कुछ हार जाने के पश्चात् यह दर-दर की ठोकरें खाने लगा। मारा-मारा फिरने लगा। कहते हैं-अकल आती है बसर को ठोकरें खाने के बाद। यही दशा इस राजा की हुई। इसे अनेक कष्ट भोगने के बाद कुछ समझ आई। अपने लोकापवाद और अपयश को देखकर इसे विरक्ति हुई। इसने दीक्षा धारण करके कठोर तप किया और स्वयं को सम्हाला। अन्त में संन्यासपूर्वक मरकर यह लान्त्व स्वर्ग में देव हुआ।

जुआ कोयले जैसा है। कितना ही घिसो कालिमा ही जैसे कोयले से निकलती है, इसी प्रकार कितना ही खेलो जुआ, किन्तु उससे निकलेगा दुःख ही दुःख। किसी ने ठीक ही कहा है-

क्षण में राजा क्षण में रंक।

देखो जुआबाज के रंग ॥

(महापुराण, ५९.७२-८१)

श्रमण संस्कृति में साम्य भाव से अंतिम विदाई का नाम है 'सल्लेखना'

मुनि श्री विशुद्ध सागर

श्रमण संस्कृति में त्याग और तपस्या की अद्भुत महिमा ने सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया है। चर्या में अहिंसा, दृष्टि में अनेकान्त और वाणी में स्यादवाद इस संस्कृति का मूल मंत्र है। जैन दर्शन में संयम को जीवन का शृंगार कहा गया है। आत्म भावना की नीव संयम है। प्रभुत्व शांति को उजागर करने का कोई माध्यम है तो वह है संयम मार्ग। इसके बिना मनुष्य (नर) पर्याय निर्गन्ध पुष्प के तुल्य है। सुगन्ध रहित पुष्प की जैसे कोई कीमत नहीं होती, उसी प्रकार संयम रहित जीवन व्यर्थ है।

संयम नीव है तो सल्लेखना उसका कलश है। जिस प्रकार कलश रहित मंदिरशिखर, शोभा को प्राप्त नहीं होता वैसे ही सल्लेखनाविहीन संयम भी शोभाहीन हो जाता है। साधक की साधना का कोई प्रतिफल है तो वह है समाधि। साधक की पूर्ण साधना निर्मल और निर्दोष होने पर ही निर्मल समाधि हो पाती है। सच्चे साधक को मृत्यु का बोध हो जाता है, क्योंकि जिस जीव का जैसा गति बंध होता है, अंत समय में उसकी मति वैसी ही जाया करती है।

साधक के लिए समाधि और सल्लेखना ऐसी उत्कृष्ट सम्पत्ति है जिसकी कामना हरेक व्यक्ति करता है, पर जिस जीव ने अशुभ कर्म का बंध कर लिया हो, उसे समाधि रूपी संपदा मिल नहीं पाती। सम्यग्दृष्टि भव्य जीव की ही समाधि होती है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव की त्रिकाल में समाधि होती ही नहीं है। जिन साधकों को निर्मल समाधि चाहिए उन्हें सर्व प्रथम असमाधि के कारणों से बचकर अपने से ज्ञानदर्शनचारित्र में जो श्रेष्ठ हैं उनकी अविनय से बचें।

यदि कोई साधक स्वयं से दीक्षा में एक दिन, एक रात और एक मुहूर्त भी बड़ा है तो उसे ज्येष्ठता की अपेक्षा मूलाचार ग्रन्थ में गुरु संज्ञा दी गई है। गुरु का अविनयी, नियम से असमाधि को प्राप्त करता है। जैनागमविरुद्ध क्रियाओं को पकड़ने से जिनाज्ञा को भंग करने वाला समाधि सहित मरण नहीं कर पाता है।

आचार्य श्री वट्टकेर महाराज ने मूलाचार जी ग्रन्थ में असमाधि से युक्त करण करने वाले जीव के लक्षण को बताया है कि :

जे पुण गुरु पडिणीया वहु मोहा ससबलाकुसीलाय ।

अस महिणा मरंते ते होंति अणंत संसारा ॥

अर्थात् जो गुरु के प्रतिकूल हैं मोह की बहुलता से युक्त हैं, सबल-अतिचार सहित चारित्र पालते हैं और कुत्सित आचरण वाले हैं वे नियम से असमाधि से मरण करते हैं। इस प्रकार अनंत

संसारी का सेहरा बाँध लेते हैं। अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर संसारनाशक साधक कौन होता है तो मूलाचार में उल्लेख मिलता है -

जिण बयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।

असबल अएंकिलिट्ठणा ते होंति परित्त संसारा ॥

भावार्थ यह कि जो जिनेन्द्र देव के वचनों के अनुरागी है, भाव से गुरु की आज्ञा का पालन करता है वही संसार का अंत कर पाता है। जैनागम में मरण के पाँच भेद किए गए हैं: बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण, पण्डितमरण, पंडितपंडितमरण। मिथ्यात्व की दशा में जो जीव मरण को प्राप्त होता है वह बालबाल मरण है। सम्यक् दृष्टि जीव के अव्रत दशा के मरण को बालमरण कहा गया है। देश संयमी (अणुव्रती) का मरण बाल पंडित मरण, महाव्रती मुनिराजों की विधिपूर्वक सल्लेखना से जो मरण होता है, वह पंडितमरण और केवली भगवान् का जो निर्वाण (मोक्ष) होता है वह पंडित-पंडित मरण कहलाता है।

इस जीव ने अज्ञान दशा में बाल-बाल मरण तो अनंतबार किया, परन्तु पंडित मरण नहीं किया। एक बार भी पंडित मरण हो जाता तो 7 अथवा 8 भव ही धारण करता और न्यूनतम 2-3 भव के बाद मोक्ष को प्राप्त कर लेता।

सल्लेखना समाधि

मरणकाल नजदीक आने पर प्रीतिपूर्वक साधक को सल्लेखना धारण करने का विधान है। सवार्थसिद्धि में सूत्र दिया गया है कि-

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना

अर्थात् अच्छे प्रकार से काय और कषाय को कृश करना सल्लेखना है। यह सल्लेखना साधक प्रीतिपूर्वक धारण करता है, क्योंकि प्रीति के रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं कराई जाती, किन्तु प्रीति के रहने पर साधक स्वयं ही सल्लेखना करता है। इसे धारण करने के लिए समाज अथवा धर्म का दबाव नहीं होता बल्कि साधक स्वेच्छा से मृत्यु काल समीप समझकर धर्मध्यान से युक्त होकर प्राणों का विसर्जन करता है। सल्लेखना को समाधिमरण भी कहा गया है। समाधि से तात्पर्य है समतारूप बुद्धि या समता परिणाम। यह परम सत्य है जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु नियम से होगी, चाहे साम्यभाव से अंतिम श्वासों को छोड़े अथवा चिल्ला-चिल्लाकर प्राणों का विसर्जन करे।

सल्लेखना से अनभिज्ञ पुरुष भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होंगे। उन्हें भी यही चिन्तन और विचार करना चाहिए कि उनका अंतिम समय शान्तभावपूर्वक व्यतीत हो। शांत निःस्पृह भाव से

अक्टूबर-नवम्बर 2002 जिनभाषित 7

मृत्यु का नाम ही सल्लेखना-समाधिमरण है, बलात् आत्मघात करना सल्लेखना नहीं है। साधक की आयु जब पूर्णतः की ओर होती है तब वह योग्य आचार्य महाराज (गुरु) की चरणनिश्रा में पहुँचकर अनुनय-विनय करता है कि भगवन अब यह देह साधना में सहायक नहीं हो रही और न ही संयम का निर्मल पालन हो पा रहा है अतः आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना व्रत प्रदान करें। यह सत्य है कि किसी व्यक्ति के भवन में अग्नि लग जाने पर पहले अग्नि बुझाता है और भवन की रक्षा का पूर्ण यत्न करता है। ऐसी स्थिति में वह रत्न-स्वर्ण आदि द्रव्यों को लेकर भवन के बाहर आ जाता है। ठीक उसी प्रकार जैन योगी सर्वप्रथम धर्म साधना के लिए शरीर की पूर्ण रक्षा करता है। जब वह समझ लेता है कि अब यह शरीर बचने वाला नहीं है तब वह श्रेष्ठ रत्न, रत्नत्रय धर्म की रक्षा के खातिर समाधि धारण करता है। अर्थात् कषायों से तथा शरीर से निःस्पृह वृत्ति को स्वीकार कर चिंतन करता है -

धीरेण वि मरिदव्यं णिद्धीरेण वि अवस्समरिव्वं ।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥

इस गाथा का यह अर्थ है कि धीर को भी मरना है और धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है। दोनों स्थिति में मृत्यु है तो धीरता सहित मृत्यु का वरण करना श्रेष्ठ है।

सीलेण वि मरि दव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं ।

जइ दोहिं वि मरिदव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥१०१॥

मूलाचार की इस गाथा का अर्थ है कि शीलयुक्त और शील रहित दोनों को मरना ही है, तो क्यों न शील सहित मरण को स्वीकार किया जाए। साधक जब आचार्य महाराज से प्रार्थना करता है, तब ज्ञानी आचार्य, योग्य वैद्य अथवा डाक्टर से सलाहपूर्वक रिष्टज्ञान से अंदाज लगा लेते हैं कि साधक की आयु क्षीण होने वाली है, इसका अल्प समय ही अवशेष है तब ही साधक को सल्लेखना की स्वीकृति प्रदान की जाती है।

मृत्यु से कुछ समय पूर्व शरीर की स्थिति बनाए रखने वाले परमाणुओं में विपर्यास आ जाता है जिसके कारण इन्द्रिय शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर के संघटित परमाणु विघटित होने की ओर अग्रसर होने लगते हैं, तब धैर्य और स्मृति में न्यूनता आने लगती है। यही प्रक्रिया शारीरिक अरिष्टों की सूचक है। जिस व्यक्ति को अपने पैर दिखाई न दें तो उसे अपनी आयु तीन वर्ष की जानना चाहिए। जंघा न दिखे तो 2 वर्ष, घुटना दिखाई न दे तो एक वर्ष और वक्षस्थल दृश्यमान न होने पर दस माह आयु के शेष मानना चाहिए। इन निमित्तों से आचार्य महाराज जान लेते हैं कि आयु पूर्णता की ओर है। जब आयु की स्थिति पूर्णता की ओर होती है तभी सल्लेखना व्रत धारण किया जाता है। सल्लेखना समाधिमरण है। इसे अकालमरण की संज्ञा देने वाले अज्ञ हैं।

सल्लेखना कब धारण करना चाहिए इस संबंध में जैन दर्शन के महान तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतिकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

गाथा का अर्थ यह है कि प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ने को गणधरादि देव आर्य पुरुष सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है

महान् आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी पुरुषार्थसिद्धयुपाय जी में लिखते हैं -

यो हि कषयाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः

व्ययरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः ॥

जो पुरुष कषाय से रंजित होता हुआ कुम्भक जल, अग्नि, विष और शास्त्रों के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है यही वास्तव में आत्मघात है। ठीक इसके विपरीत सल्लेखना करने वाला न तो मरण चाहता है, न अग्नि में सती प्रथा के समान कूदता है, न ही पर्वत से गिरकर प्राण देता है, न विष खाकर मरता है, न ही जल में कूदकर प्राणों का त्याग करता है। वह तो मरणकाल जानकर शांत भाव से धर्मध्यान से युक्त होकर देह का विसर्जन करता है।

जिन्हें यह शंका है कि सल्लेखना आत्मघात करना क्यों नहीं है उन्हें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यह सल्लेखना आत्म घात करना नहीं है। क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद (उदासीनता) का अभाव रहता है। प्रमत्त योग से प्राणों का वध करना हिंसा है। जहाँ हिंसा हो वह कृत्य आत्मघात करना हो सकता है, परन्तु सल्लेखना में न हिंसा है और न ही आत्मघात। महान आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्पष्ट किया है कि-

मरणोऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।

रागादिमंतरेण व्याप्रियामाणस्य नात्मघातोस्ति ॥

इस गाथा का यह अर्थ है कि मृत्यु के उत्पन्न होने पर नियम से कषाय सल्लेखना के सूक्ष्म करने मात्र में राग-द्वेष के बिना व्यापार करने वाले सल्लेखना धारण करने वाले पुरुष का आत्मघात करना नहीं है। यहाँ पर शंका की जा सकती है कि जो पुरुष सल्लेखना धारण करता है, वह आत्मघाती क्यों नहीं कहा जाता ? क्योंकि वह मरण चाहता है और प्राणों को शरीर से हटाने के लिए उद्यम करता है। इसी शंका का समाधान उपर्युक्त श्लोक में किया गया है कि सल्लेखना को धारण करना आत्मघात करना किसी भी दृष्टि से नहीं है। कारण यह है कि मरण समय उपस्थित हो जाने पर साधक कषायों को कृश कर अपने परिणामों को विशुद्ध करता है। दूसरी बात यह है कि इसमें वह आत्मघात का कोई प्रयोग नहीं करता, जब उसे यह बोध हो जाता है कि अब नियम से मृत्यु के सन्निकट है तो वह अपने संबंधियों से क्षमा माँगता है और परिग्रहों और कुटुम्बियों से ममत्व को छोड़कर शुद्धात्म स्वरूप के चिंतन में मग्न हो जाता है। क्या आत्मघात करने वाला ऐसे निर्मल विशुद्ध परिणाम बना सकेगा? वह तो विशेष राग-द्वेष भावों से आत्मघात करने की कुचेष्टा करता है, मरणजन्य संक्लेश भावों से मरता है।

परन्तु सल्लेखना में इन सभी बातों का सर्वथा अभाव है।

सल्लेखना में न किसी प्रकार का राग-द्वेष, न इष्टानिष्ट बुद्धि और न ही कोई शल्य ही है, प्रत्युत निरपेक्ष वीतराग विशुद्ध परिणाम है। इन तथ्यों से स्वतः स्पष्ट है कि सल्लेखना समाधिमरण है, आत्मघात करना नहीं है, बल्कि साम्य भावों से अंतिम विदाई है। यह अकाल मरण भी नहीं है, अपितु समता का जीवन जीना है जब तक जियें निर्मल भावों के साथ जियें। यह अंतिम यात्रा की पूर्व तैयारी है। मेरी सफल पावन यात्रा हो इस उद्देश्य को लेकर साधक अपनी साधना के फल के रूप में सल्लेखना स्वीकारता है। इसका फल परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष सुख है।

सल्लेखना जैसे पावन अहिंसा परिणामों को आत्महत्या का रूप देना अपनी अल्पज्ञता का प्रकटीकरण है। आत्महत्या भावुकता एवं कषायजन्य परिणति का परिणाम है। क्षमाभावपूर्वक साम्य स्वभाव में लीन हो जाना ही सल्लेखना है। जैन दर्शन के अलावा अन्य चिंतकों ने भी सल्लेखना को उत्तम और आवश्यक साधना के

रूप में स्वीकार कर उसका अवलम्बन किया है। जैन दर्शन में इसे मृत्यु महोत्सव के रूप में देखा जाता है।

किसी भी दर्शन के अंतरंग भावों का ज्ञान होने के बाद ही इस तरह के प्रश्न चिह्न लगाने की कोशिश करना चाहिये। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा पर रोक लगाई थी। सल्लेखना उस काल में भी होती थी। उन्होंने इस मामले में किसी तरह का विरोध नहीं किया। वह जानते थे कि इसमें सती प्रथा जैसी प्रक्रिया नहीं है, जिस पर प्रश्न खड़ा किया जाए।

आवश्यकता इस बात की है कि हम सत्य को समझकर अपनी बुद्धि और विवेक का विकास करें तथा भावना भाएँ कि अंतिम मरण हमारा सल्लेखनापूर्वक हो। किसी भी धार्मिक भावना को नष्ट करने की कुचेष्टा भारतीय संविधान के विपरीत है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में एक बनें और अपनी संगठन शक्ति को बढ़ाएँ। अंतिम लक्ष्य हमारा यह हो कि प्रभु की आराधना और आत्म साधना के साथ सल्लेखनापूर्वक मरण हो।

प्राचार्य पं. नरेन्द्र प्रकाश जी जैन का अखिल भारतीय अभिनन्दन होगा

विगत माह कोलकाता में देश के कोने-कोने से समागत प्रतिनिधि महानुभावों की एक महत्त्वपूर्ण सभा में जिसकी अध्यक्षता श्री निर्मलकुमार सेठी ने की, निश्चय किया गया कि जैन जगत् के मूर्धन्य मनीषी, यशस्वी प्रवक्ता, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्री परिषद् के कर्मठ अध्यक्ष तथा 'जैन गजट' (साप्ताहिक) के प्रधान सम्पादक माननीय पण्डितप्रवर प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी जैन, फिरोजाबाद का अखिल भारतीय अभिनन्दन भव्य समारोहपूर्वक यथाशीघ्र आयोजित किया जाये और इस अवसर पर उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर आधारित एक भव्य अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर समर्पित किया जावे।

आयोजन के सुव्यवस्थापन हेतु अखिल भारतीय समिति एवं सम्पादक मण्डल का गठन भी किया गया है।

माननीय प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी विश्रुत मनीषी, ओजस्वी, वक्ता, यशस्वी प्रशासक और प्रख्यात लेखक हैं। उनकी रचनाधर्मिता से आप सभी सुपरिचित हैं।

अतः सभी मानवीय विद्वानों, संस्था-प्रमुखों, साहित्यकारों एवं समाज बन्धुओं से सादर अनुरोध है कि-पण्डितप्रवर प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी को समर्पित किये जाने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ प्राचार्य जी से सम्बन्धित अपनी रचनाएँ, आलेख/काव्य-सुमनांजलि/संस्मरण निम्न पते पर यथाशीघ्र भेजने की कृपा करें। यदि आपके संग्रह में उनसे सम्बन्धित किसी विशेष प्रसंग का कोई चित्र हो तो उसे भी भेजने का कष्ट करें।

प्रोफेसर डा. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
28, सरस्वती कालोनी, दमोह (म.प्र.) 470661

फिरोजाबाद में तत्त्वार्थसूत्र पर विद्वत्संगोष्ठी सम्पन्न

“जैन मुनि वर्षायोग प्रभावना समिति फिरोजाबाद (उ.प्र.)” द्वारा परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनि श्री समता सागर जी, पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी एवं पूज्य एलक श्री निश्चयसागर जी की आशीष-छाया में आयोजित त्रिदिवसीय संगोष्ठी 12,13, एवं 14 अक्टूबर 2002 को स्व. सेठ छदामीलाल जैन ट्रस्ट के अन्तर्गत श्री महावीर जिनालय फिरोजाबाद में अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

संगोष्ठी में निम्नलिखित विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र के विभिन्न पक्षों पर अपने विद्वत्पूर्ण शोध आलेखों का वाचन किया: सर्वश्री प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी फिरोजाबाद, प्रो. रतनचन्द्र जी भोपाल, पं. शिवचरणलाल जी मैनपुरी, पं. मूलचन्द्र जी लुहाड़िया, पं. रतनलाल जी बैनाड़ा, डॉ. शीतलचन्द्र जी जयपुर, डॉ. श्रेयांसकुमार जी बड़ौत, डॉ. जयकुमार जी मुजफ्फरनगर, पं. निहाल चन्द्र जी बीना, डॉ. अशोककुमार जी लाडनूँ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी 'भारती' बुरहानपुर, प्रो. अजित कुमार जी विदिशा, डॉ. अशोक कुमार जी ग्वालियर, डॉ. के.एल. जैन, टीकमगढ़, डॉ. श्रीमती नीलम जैन गाजियाबाद, डॉ. विमला जैन फिरोजाबाद, डॉ. अंजु जैन फिरोजाबाद, डॉ. रश्मि जैन फिरोजाबाद एवं श्री मनोज जैन निर्लिप्त अलीगढ़।

प्रत्येक सत्र में पठित आलेखों की मुनि श्री समतासागर जी एवं प्रमाण सागर जी द्वारा विद्वत्पूर्ण समीक्षा की जाती थी, जिससे शोधालेखकों को नई-नई जानकारियाँ प्राप्त हुईं और उन्होंने अपने आलेखों को पारिभाषित और परिवर्धित किया।

अनूपचन्द्र जैन, एडवोकेट
फिरोजाबाद

जन्म से लेकर समाधि तक वर्णी जी

ब्र. त्रिलोक जैन

बुन्देली माटी के अनोखे लाल पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णीजी को गुजरे कई वर्ष हो गये पर उनकी मधुर स्मृतियाँ जन मानस के हृदय पटल पर आज भी सुरक्षित हैं। यद्यपि मैंने वर्णीजी को नहीं देखा पर उनके प्रिय शिष्य डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य की छत्रछाया में रहने का गौरव मुझे प्राप्त है, जिस प्रकार आकाश को छूते वृक्ष की शाखाएँ पाताल को छूती जड़ों की सूचना देती हैं इसी प्रकार श्रद्धेय पंडितजी की शांत स्वभावी छवि वर्णी जी के मुस्कराते चेहरे की झलक दिखाती है।

वर्णीजी का जन्म हसेरा गांव में एक असादी परिवार में हुआ था पर प्रभु राम के सम्यक् चरित्र का वर्णन करने वाले जैन ग्रन्थ पद्मपुराण की कथा सुनकर आपकी रुचि जैनधर्म में जाग्रत हो गई, आपने रात्रि भोजन एवं अनछने जल का त्याग कर दिया और आपके कदम धर्म की सम्यक् खोज में आगे बढ़ने लगे। आपने अपनी ज्ञानपिपासा शांत करने जहाँ संपूर्ण बुन्देलखण्ड में भ्रमण किया तो जयपुर जाकर भी धर्मग्रन्थों का अवलोकन-अध्ययन किया। आप बनारस में संस्कृत पढ़ने दर-दर भटके, अध्यापकों का तिरस्कार सहा पर आप अपने उद्देश्य के प्रति सदा सजग रहे, आपने ज्ञान प्राप्ति के क्षेत्र में आने वाली हर बाधा को राधा समझा और पारा बनकर बहते गए जिसका सुपरिणाम ये निकला कि आज बनारस सहित भारतवर्ष में वर्णीजी की प्रेरणा से स्थापित कई गुरुकुल समाज में धर्म का आलोक बिखेर रहे हैं।

इसकी कहानी भी बड़ी रोचक है, वर्णीजी जब बनारस किसी संस्कृत अध्यापक से जैन साहित्य का कोई ग्रन्थ पढ़ने गये तो अध्यापक के ये व्यंग्यबाण कि तुम जैनियों का है ही कहाँ कोई संस्कृत साहित्य जो तुम्हें पढाऊँ, वर्णी जी के अंदर चुभ गये और वर्णीजी ने संकल्प कर लिया कि इसी बनारस के अंदर संस्कृत विद्यालय की स्थापना करके ही चैन से बैठूँगा, इसी संकल्प के साथ वर्णीजी ने एक रुपये के चौंसठ पोस्टकार्ड चौंसठ महानुभावों को डाले और परिणामस्वरूप बनारस में स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना हुई और इस विद्यालय के वर्णीजी ही प्रथम छात्र हुए। वर्णीजी ने विद्या अध्ययन के बाद जब समाज में भ्रमण किया तो कुरीतियों एवं अंधी मान्यताओं से ग्रसित मानवता की मुक्ति के लिए कमर कस ली और जन-जन में व्याप्त अंधकार को दूर भगाना ही आपका उद्देश्य बन गया, आपने गाँव-गाँव में धार्मिक पाठशाला एवं गुरुकुलों की स्थापना की एवं स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया।

इस विषय में आपके विचार थे कि मनुष्य की जन्मदात्री ही यदि अशिक्षित रहेगी तो मनुष्य का विकास तीन काल में संभव नहीं है। आप कोरे उपदेशक नहीं थे, आपका संपूर्ण जीवन त्यागमयी गौरवगाथा है। आप एक बार कड़ाके की ठंड में किसी दूसरे गाँव से अपने घर लौट रहे थे, रास्ते में ठंड से काँपती बुढ़िया को अपनी चादर देकर स्वयं नंगे बदन घर वापिस आ गये थे और

जबलपुर के कमनिया गेट पर देश की आजादी के लिये आपने अपनी चादर दान दे दी थी जो देखते-ही-देखते आपके भक्तों ने हजारों रुपयों में खरीद ली थी, इस सभा में आपने कहा था मुझे विश्वास है, भारत माँ के वीर सूपत जेल से छूटेंगे और देश आजाद होगा और आगे चलकर वही हुआ। आपके जीवन में धर्म माता चिरोंजा बाई का ममतामयी आशीर्वाद सदा रहा, जिसकी छत्र छाया में आप प्रगति पथ पर चलते रहे।

एक बार की घटना है कि बस कंडक्टर ने आपको फ्रंट सीट से उठाकर पीछे की सीट पर बैठने को कहा जिसके परिणामस्वरूप आप बस से नीचे उतर पड़े और आजीवन काल बस का त्याग कर मोक्ष मार्ग के पथिक बन गये। मोक्ष मार्ग की इस कठिन यात्रा के दौरान आपको पन्नालालरूपी रत्न मिला जिसको तराशकर आपने इतना चमकीला बना दिया कि जिसकी चमक से सारा जैन समाज गौरवान्वित है। पंडितजी ने अनगिनत जैन ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद कर जो महान कार्य किया है उसे देखकर वर्णीजी स्वर्ग में आज भी आनंद विभोर होते होंगे। वर्णीजी की कृपा से भारत को कई विद्वान मिले और आज भी मिल रहे हैं, क्योंकि वर्णीजी का जीवन अज्ञान अंधकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान सूर्य के समान था, जिसका आलोक संस्कारधानी में वर्णी गुरुकुल आज भी बिखेर रहा है।

इस प्रकार वर्णीजी का जीवन संघर्ष के साथ-साथ त्याग एवं वैराग्य की ऐसी अनोखी कहानी है जिसे पढ़कर हमारा जीवन भी प्रकाश से भर सकता है। आपका त्याग इतना महान था कि एक बार एक गाँव में समस्त ग्रामवासियों ने मांस-मछली का त्याग कर दिया था। यह कहानी इस प्रकार है:

वर्णीजी किसी गाँव में अध्ययनरत थे, जिस समय आप भोजन करने बैठते उसी समय मछली का बंधार होता जिसकी दुर्गंध से वर्णीजी का खाना हराम हो जाता, जिससे वर्णीजी दिनों-दिन कमजोर होते गये। बात जब मुखिया को मालूम हुई तो मुखिया ने आदेश दिया कि जब तक यह बालक गाँव में रहेगा तब तक कोई मांस-मछली का सेवन नहीं करेगा। इस प्रकार से हसेरा गाँव से ही बही ज्ञान गंगा जन-जन की प्यास बुझाते हुए अनंतानंत सिद्धों की निर्वाण स्थली सम्मेद शिखर के ईसरी उदासीन आश्रम में आत्मसागर में लीन होकर समाधि को प्राप्त हुई। इस धरती के वीर सपूत जिसने अपने जन्म से 'आसोज कृष्णा ४ संवत् १९३१ विक्रमाब्द में हसेरा के अंक से निकलकर जन-जन को हर्षाने वाला सुख का निलय, मुक्ति का सोपान, ज्ञान का प्रकाश अपने आभा मंडल से बिखेरा, जिसे विनोबा जी ने सतयुगी संत कहा तो जन-जन ने वर्णीजी के नाम से जाना' ऐसे महान संत को कोटि-कोटि प्रणाम करते हुए श्रद्धा के ये सुमन समर्पित हैं।

वर्णी दि.जैन गुरुकुल,
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर -3(म.प्र.)

चातुर्मास में बरसी चौदह रत्न मणियाँ

डॉ. श्रीमती विमला जैन, फिरोजाबाद

श्रमण-शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी के शिष्योत्तम मुनि श्री समता सागर जी का पावन वर्षा योग फिरोजाबाद में हो रहा है। मुनि श्री वर्तमान के क्रान्तिदूत तथा आदर्श मुनिचर्या के धनी हैं। उनका चिन्तन, मनन तथा प्रवचन एकरूपता लिये होता है। वे श्रुतमर्मज्ञ तथा निश्चय-व्यवहार में ताल-मेल बैठाने में सिद्धहस्त हैं। सैद्धान्तिक गूढ़ता को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में ढालकर मनोवैज्ञानिक स्वरूप दे देते हैं। इस प्रकार शिवम-सत्यम्-सुन्दरम् से आभासित उनके प्रवचन मिथ्यात्व और अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं। सामाजिक कुरीतियों पर प्रखर वाणी के द्वारा सीधा प्रहार करते हैं। वर्तमान में वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान में भगवान महावीर के सिद्धान्त रामबाण हैं अतः 'जीयो और जीने दो' के लिये शान्ति प्रदायक सुखद गुरु मंत्र के रूप में श्रावण माह में प्रवचन श्रृंखला चली। मुनिश्री ने 14 सिद्धान्त 14 रत्न 'चिन्तामणि' के रूप में दिये जिनसे मानव का जीवन सुखशान्तिमयी होने के साथ-साथ आत्मोत्थान के परम लक्ष्य को भी पा सकता है।

वे चौदह सिद्धान्त हैं- (1) अहिंसा, (2) अनेकान्त, (3) अपरिग्रह, (4) आत्म स्वातंत्र्य या कर्म सिद्धान्त, (5) आहारशुद्धि, (6) विचारशुद्धि, (7) संस्कारशुद्धि, (8) व्यापार शुद्धि, (9) स्वाध्याय, (10) संयम, (11) सेवा, (12) वात्सल्य, (13) भक्ति, (14) ध्यान। ये रत्न मणियाँ जब भी जीवन को अलंकृत कर देंगी, वह देदीप्यमान मानवोत्तर की श्रेणी में आने लगेगी। क्रमशः चलने वाली प्रवचन श्रृंखला में 'अहिंसा' को जैन धर्म का प्राण और मानवता की शान माना है। कर्म और व्यवहार में ही नहीं, वाणी और चिन्तन में भी अहिंसा आवश्यक है। प्राणी मात्र के प्रति करुणा भाव रखना, उन्हें संरक्षण देना, निर्भय, सुखद, शान्तिमय, जीवनयापन में सहयोग करना, मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदना के साथ अहिंसा व्रत की साधना मानवता का प्रथम कर्तव्य है। अनेकान्त के सिद्धान्त के द्वारा विश्व-राष्ट्र समाज तथा वैयक्तिक विषमताओं का समाधान हो सकता है। अनेकान्त 'ही' की हठग्राहिता को छोड़ 'भी' की मार्दवता का पक्षधर है। भगवान महावीर ने अनेकान्त और स्याद्वाद का सूत्र देकर समन्वय और समाजवाद का सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय का मंगल भाव भरा है। 'अपरिग्रहवाद' एक अद्वितीय सिद्धान्त है। यद्यपि अनादिकालीन संज्ञा में परिग्रह स्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु जब तक मनुष्य परिग्रह के जंजाल में फँसा रहता है उसे निराकुलता की प्राप्ति नहीं हो सकती। परिग्रह के प्रति अन्तर-बाहर ही निःस्पृहता की स्वात्मसुखानुभूति का मर्म है। 'आत्म स्वातंत्र्य' में कर्म सिद्धान्त अन्तर्निहित है, जो जैसा करता

है वह वैसा पाता है। कर्म पुरुषार्थ की प्रेरक शक्ति आत्मस्वातंत्र्य में है।

जीवनोत्थान के लिये 'आहार शुद्धि' बहुत ही महत्वपूर्ण है। अन्धकार को खाने वाला प्रकाशपुंज दीपक, काजल ही देता है, इसी प्रकार सात्त्विक, राजसी, तापसी, भोजन का प्रभाव मानव की वृत्ति और स्वभाव को प्रभावित करता है। 'विचार शुद्धि' से तात्पर्य है परिणामों/भावों की विशुद्धता से। भाव के अनुसार ही वाणी और क्रिया होती है अतः विशुद्धि के लिये सर्वप्रथम मन-मस्तिष्क और विचार पवित्र हों, आगे सब कुछ निश्चय ही विशुद्ध हो जायेगा। 'संस्कार शुद्धि' में सु-संस्कारों का महत्व बताया है, मानव पतित या पावन संस्कार से बनता है। 'व्यापार शुद्धि' सात्त्विक जीविकार्जन से तात्पर्य है, मनुष्य जैसा व्यापार करता है उसके विचार भी उसी के अनुसार बनते हैं। क्रूर कर्म करने वाला उदार नहीं हो सकता। धर्म और कुल की मर्यादा के अनुकूल उत्तम जीविका के लिये उद्यम श्रेष्ठ है।

आत्मोत्थान के लिये 'स्वाध्याय' स्व-आत्म-ध्यान तथा सत्साहित्य व आगम ग्रन्थों का पठन-पाठन आवश्यक है। 'संयम' मानव जीवन की विशेषता है। इन्द्रिय व मन को संयमित रखकर ही मानव धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ कर सकता है। प्राणी संयम के रूप में दया, करुणा और इन्द्रिय संयम के द्वारा ही अहिंसा पल सकती है। 'सेवा' मानवीयता का गुण है, सेवा वैयावृत्ति के द्वारा स्व-पर का उपकार तो होता ही है, महान पुण्यार्जन भी होता है 'वात्सल्य' शुद्ध प्रेम को कहा जा सकता है, निःस्वार्थ भाव से प्राणी मात्र के प्रति स्नेह रखना, उसके कष्ट निवारण की हार्दिक उत्कंठा होना। जिस प्रकार माँ अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य रखती है, शिशु के क्षुधातुर होते ही उरोर्जों से दूध की धारा बहने लगती है, इसी प्रकार प्राणीमात्र के प्रति उदार वृत्ति मानव को महान बना देती है। 'भक्ति' भगवान के प्रति भक्त की सच्ची, श्रद्धा, उदात्त समर्पण, अभीप्सा उसे भगवान बना देती है। 'ध्यान' के द्वारा ध्याता ध्येय को पा लेता है। ध्यान व्यक्ति को साधनापथ में अन्तर्मुखी बनाता है।

इस प्रकार चातुर्मास के प्रथम माह की प्रवचन श्रृंखला में मुनि श्री ने अपने सरल, सरस, सुबोध उद्बोधन से मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालते हुए, धर्म प्रेमी श्रोताओं को आन्तरिक शुद्धीकरण के लिये तैयार किया है। उनका दिशा बोध रत्नत्रय के बीजंकुरण का स्वरूप ले चुका है। भगवान महावीर के सिद्धान्तों का सर्वांगीण तथा सर्वपक्षीय निरूपण, वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण, चतुर्योग को विवेचित करता है। इस आदर्शभूत विश्व-विश्रुत सिद्धान्त धारा के प्रति श्रोतागण नतशील तथा कृतार्थ हैं।

उपवास

स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार

उपवास एक प्रकार का तप और व्रत होने से धर्म का अंग है। विधिपूर्वक उपवास करने से पाँचों इन्द्रियाँ और बन्दर के समान चंचल मन ये सब वश में हो जाते हैं, साथ ही पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है। संसार में जो कुछ दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं वे प्रायः इन्द्रियों की गुलामी और मन को वश में न करने के कारण से ही उठाने पड़ते हैं। जिस मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों और मन को जीत लिया उसने जगत जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसी को मिलता है। इसलिये सुखार्थी मनुष्यों का उपवास करना प्रमुख कर्त्तव्य है। इतिहासों और पुराणों के देखने से मालूम होता है कि पूर्व काल में इस भारतभूमि पर उपवास का बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य कई-कई दिन का ही नहीं, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तक का भी उपवास किया करते थे। वे इस बात को भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि-

“कर्मैश्वरं यदज्ञानात् संचितं जन्म-कानने।

उपवास-शिखी सर्वं तदभस्मीकुरुते क्षणात्॥”

“उपवास-फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय-जात-महाविभवान्।

खलु कर्म-मल-प्रलयादचिरादजगत्सम-केवल-सिद्ध-सुखम्॥”

‘संसाररूपी वन में अज्ञान भाव से जो कुछ कर्म रूपी-ईधन-संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्र में भस्म कर देती है।’

‘उपवास के फल से मनुष्य तीन लोक के महाविभव को प्राप्त होते हैं और कर्म-मल का नाश हो जाने से शीघ्र ही अजर-अमर केवल सिद्ध सुख का अनुभव करते हैं।’

इसी से वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्रायः धीर वीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढ़ संकल्पी, बलवान्, विद्यावान् और सुखी होते थे, जिस कार्य को करना विचारते थे उसको करके छोड़ते थे। परन्तु आज वह स्थिति नहीं है। आजकल उपवास की बिलकुल मिट्टी पलीद है- प्रथम तो उपवास करते ही बहुत कम लोग हैं और जो करते हैं उन्होंने प्रायः भूखे मरने का नाम उपवास समझ रक्खा है। इसी से वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवास का दिन यों ही आकुलता और कष्ट से व्यतीत करते हैं- गर्मी के मारे कई-कई बार नहाते हैं, मुख धोते हैं, मुख पर पानी के छींटे देते हैं, ठंडे पानी में कपड़ा भिगो कर छाती आदि पर रखते हैं; कोई कोई प्यास कम करने के लिए कुल्ला तक भी कर लेते हैं और किसी प्रकार से यह दिन पूरा हो जावे तथा विशेष भूख-प्यास की बाधा मालूम न होवे इस अभिप्राय से खूब सोते हैं, चौसर-गंजिफा आदि खेल खेलते हैं अथवा कभी-कभी का पड़ा गिरा ऐसा गृहस्थी का धंधा या आरंभ का काम ले बैठते हैं जिसमें लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पड़े। गरज ज्यों-त्यों करके अनादर के साथ उपवास के दिन को पूरा कर देते हैं, न विषय-कषाय को छोड़ते हैं और न कोई खास धर्माचरण ही करते हैं। पर इतना जरूर है कि भोजन बिलकुल नहीं करते, भोजन न करने को

ही उपवास या व्रत समझते हैं और इसी से धर्म लाभ होना मानते हैं। सोचने की बात है कि यदि भूखे मरने का ही नाम उपवास या व्रत हो तो भारतवर्ष में हजारों मनुष्य ऐसे हैं जिनको कई-कई दिन तक भोजन नहीं मिलता है, वे सब व्रती और धर्मात्मा ठहरें; परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे आचार्यों ने उपवास का लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है-

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।

उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

अर्थात्- जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनों का त्याग किया जाता है उसको उपवास समझना चाहिये, शेष जिसमें कषाय और विषय का त्याग न होकर केवल आहार का त्याग किया जावे उसको लंघन (भूखा मरना) कहते हैं।

श्री अमितगति आचार्य इस विषय में ऐसा लिखते हैं-

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वांश्च-विमोचिनः।

चतुर्विधाऽऽनत्याग उपवासो मतो जिनैः॥

अर्थात्- जिसने इन्द्रियों के विषयभोग और उपभोग को त्याग दिया है और जो समस्त प्रकार के आरंभ से रहित है उसी के जिनेन्द्र देव ने चार प्रकार के उपवास के आहार-त्याग को उपवास कहा है। अतः इन्द्रियों के विषयभोग और आरंभ के त्याग किये बिना चार प्रकार के आहार का त्यागना उपवास नहीं कहलाता।

स्वामी समन्तभद्राचार्य की उपवास के विषय में ऐसी आज्ञा है-

पंचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गंध-पुष्पाणाम्।

स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥११॥

धर्माभूतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्धान्यान्।

ज्ञानध्यान-परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालुः॥१२॥

‘उपवास के दिन पाँचों पापों हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का, शृंगारादिक के रूप में शरीर की सजावट का, आरम्भों का, चन्दन इत्र फुलेल आदि गंध द्रव्यों के लेपन का, पुष्पों के सूँघने तथा माला आदि धारण करने, स्नान, आँखों में अंजन (सुरमा) लगाने का और नाक में दवाई डालकर नस्य लेने तथा तमाखू आदि सूँघने का, त्याग करना चाहिये।’

‘उपवास करने वाले को उस दिन निद्रा तथा आलस्य को छोड़ कर अति अनुराग के साथ कानों द्वारा धर्माभूत को स्वयं पीना तथा दूसरों को पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यान के आराधन में तत्पर रहना चाहिए।’

इस प्रकार उपवास के लक्षण और स्वरूप-कथन से यह साफ़तौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरने का नाम उपवास नहीं है; किन्तु विषय-कषाय त्याग करके इन्द्रियों को वश में करने, पंच पापों तथा आरंभ को छोड़ने और शरीरादिक से ममत्व परिणाम को हटाकर प्रायः एकान्त स्थान में धर्म ध्यान के साथ काल को

व्यतीत करने का नाम उपवास है और इसी से उपवास धर्म का एक अंग तथा सुख का प्रधान कारण है।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवास के दिन झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थी के धंधों में लगे रहकर अनेक प्रकार के सावद्यकर्म (हिंसाके काम) एवं छल-कपट करते हैं, मुकदमे लड़ाते और परस्पर लड़कर खून बहाते हैं तथा अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीर का श्रृंगार करते हैं, सोते हैं, ताश, चौपड़ तथा गंजिफा आदि खेल खेलते हैं, हुक्का पीते या तमाखू आदि सूंघते हैं और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म न करके अनादर तथा आकुलता के साथ उस दिन को पूरा करते हैं वे कैसे उपवास के धारक कहे जा सकते हैं और उनको कैसे उपवास का फल प्राप्त हो सकता है? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्यों का उपवास नहीं है किन्तु उपहास है। ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनों की हँसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवास से प्रायः कुछ भी धर्म-लाभ नहीं होता। उपवास के दिन पापाचरण करने तथा संक्लेशरूप परिणाम रखने से तीव्र पाप बंध की संभावना अवश्य है।

हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शर्म की बात है कि ऊँचे पद को धारण करके नीची क्रिया करें अथवा उपवास का कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठें।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करने से पाँचों इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वश में हो जाते हैं और इनके वश में होते ही उन्मार्ग-गमन रुककर धर्म-साधन का अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सदगुण इस मनुष्य में जाग्रत हो उठते हैं और यह मनुष्य पापों से बचकर सुख के मार्ग में लग जाता है। परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नहीं करते उनको कदापि उपवास के फल की यथेष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकार का कायक्लेश है, जो भावशून्य होने से कुछ फलदायक नहीं; क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भावों के फलदायक नहीं होती ('यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः')। अतएव उपवास के इच्छुकों को चाहिए कि वे

उपवास के आशय और महत्त्व को अच्छी तरह समझ लें, वर्तमान विरुद्धाचरणों को त्याग करके श्रीआचार्यों की आज्ञानुकूल प्रवर्तन और कम-से-कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को (जो पर्व के दिन हैं) अवश्य ही विधिपूर्वक तथा भाव सहित उपवास किया करें। साथ ही इस बात को अपने हृदय में जमा लेवें कि उपवास के दिन अथवा उपवास की अर्वाधि तक व्रती को कोई भी गृहस्थी का धंधा या शरीर का श्रृंगारादि नहीं करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारंभ को त्याग करके पंच पापों से विरक्त होकर अपने शरीरादिक से ममत्व-परिणाम तथा राग भाव को घटाकर और अपने पाँचों इन्द्रियों के विषयों तथा क्रोध, मान, मायादि कषायों को वश में करके एकान्त स्थान अथवा श्री जिनमन्दिर आदि में बैठकर शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्र-श्रवण, सामायिक, पूजन-भजन आदि धर्म कार्यों में काल को व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिए, आर्त-रौद्र परिणामों को अपने पास नहीं आने देना चाहिए, हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिए और इस बात को याद रखना चाहिए कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्म के कार्य किये जावें वे सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहिये। कोई भी धर्म कार्य बेदिली, जाब्तापूरी या अनादर के साथ नहीं करना चाहिये और न इस बात का ख्याल तक ही आना चाहिए कि किसी प्रकार से यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जावे; क्योंकि बिना भावों के सर्व धर्म-कार्य निरर्थक हैं। जैसा कि आचार्यों ने कहा है-

भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव।।

'जो मनुष्य बिना भाव के पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है उसके वे सब कार्य बकरी के गलेमें लटकते हुए स्तनों के समान निरर्थक हैं।'

अर्थात्- जिस प्रकार बकरी के गले के स्तन निरर्थक हैं, उनसे दूध नहीं निकलता, वे केवल देखने मात्र के स्तन हैं, उस ही प्रकार बिना तदनुकूल भाव और परिणाम के पूजन, तप, दान, उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल दिखावामात्र हैं- उनसे कुछ भी धर्म-फल की सिद्धि अथवा प्राप्ति नहीं होती है।

फारोखी मुस्लिम बंधु को गोमाता-रक्षा शिरोमणि सम्मान पत्र

नवागढ़ (परभणी) मुनि श्री समाधिसागरजी का मौन निर्जल, बेमुद्दत अनशन आंदोलन प्रारंभ होने पर उन्हीं के आशीर्वाद से उपस्थित समुदाय के समक्ष विघ्नहर नेमिनाथ गौशाला के संरक्षक श्री नरेन्द्र सावजी, श्री शशीकांत सावजी तथा क्षेत्र उपाध्यक्ष श्री बबनराव बैण्डसुरे के हस्तकमल से श्री मो. युनुसोदीन फारोखी M.Sc. (Maths), B.Ed. संस्थापक व सचिव भारतीय गौवंश व पर्यावरण संरक्षण परिषद् 244/31 लेबर कॉलोनी, नांदेड़ को उनकी अहिंसा सेवा के उपलक्ष्य में गौशाला की ओर से गोमाता रक्षा शिरोमणि सम्मान पत्र दिया गया। आपको पढ़कर आश्चर्य होगा कि उन्होंने इसी काम के लिए अपनी नौकरी भी छोड़ दी तथा पूरे परिवार को भी शाकाहारी बनाया और उन्होंने भी मांसाहार त्यागा था, फिर भी मुनिश्री के समक्ष मांसाहार, एवं मदिरा का आजीवन त्याग किया। उनकी 'अपनी गौरक्षण' संस्था

की प्रगति हेतु नेमगिरि गौशाला अध्यक्ष श्री अशोक सावजी ने गौशाला की ओर से 1008 रु. दान की घोषणा के साथ-साथ पैसे भी दिये। फारोखी जी के कथनानुसार वे मुस्लिम बंधुओं में भी अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं और वे दावे के साथ कहते हैं कि वैध कत्लखानों में भी अवैध ही हिंसा होती है, वह बंद होना चाहिए। ऐसे फारोखी जी से सीख लेकर हमें भी समय निकालकर अहिंसा का कार्य करना चाहिए।

इन सब कार्यों को नांदेड़ निवासी डॉ. साजने तथा उनके साथियों का अमूल्य सहकार्य प्राप्त हुआ।

मुनिश्री समाधिसागरजी द्वारा स्थापित
विघ्नहर आर्यनंदी सेवादल
नवागढ़, जि. परभणी- 431401 (महा.)

श्रावक और सम्यक्त्व

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

“श्रावक” शब्द का सामान्य अर्थ ‘सुनने वाला’ है अर्थात् “शृणोति हितवाक्यानि सः श्रावकः” जो हितकारी वचनों को सुनने वाला है, वह श्रावक है। पण्डित श्री आशाधर जी ‘श्रावक’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं “शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः” जो गुरु आदि के मुख से धर्म श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं। श्रावक प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ में भी इसी प्रकार का कथन है-

संमत्त दंसणाई पयदिहं जइज्जण सुणेई य।

सामायारि परमं जो खलु तं सावगं विन्ति ॥

जो सम्यग्दर्शनादि युक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनों आदि के पास जाकर परम समाचारी (साधु और गृहस्थों का आचार विशेष) को सुनता है, उसे श्रावक कहते हैं।

आगम साहित्य और श्रावकाचारों में ‘श्रावक’ को अन्य अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है उपासक, श्रमणोपासक, सद्गृहस्थ, सागार आदि। पञ्चपरमेष्ठी की उपासना को मुख्य ध्येय बनाने वाला होने से उपासक, श्रमणों (मुनियों) की उपासना करने वाले की अपेक्षा श्रमणोपासक, धर्म साधना करने वाला होने से सागार कहलता है।

‘श्रावक’ प्रधानतया आज्ञाप्रधानी होता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उसे जिज्ञासा, शंका, परीक्षा का अधिकार नहीं। हाँ, वह अपने गार्हस्थिक कार्यों में इतना व्यस्त होता है जिससे वह तर्क-वितर्क के लिए समय नहीं निकाल पाता है। यही कारण है कि आचार्यों ने श्रावकों के लिए श्रद्धा गुण की प्रधानता बतलायी है। श्रद्धा के साथ विवेक और क्रियावान् होने पर ही इसकी सार्थकता है। यह शब्द स्वयं में रत्नत्रय को गर्भित किए हुए हैं। ‘श्र’ श्रद्धा (दर्शन), व विवेक (ज्ञान) क क्रिया (चारित्र) के वाचक हैं। तीनों वर्ण रत्नत्रय की सूचना देते हैं। अतः यह निश्चय होता है कि ‘श्रावक’ रत्नत्रय धर्म का धारक है। यह अवश्य कि एकदेश रत्नत्रय का ही पालन कर सकता है, क्योंकि उसकी मूर्च्छा पूर्ण रूप से समाप्त न होने के कारण और व्रतों का भी पूर्ण रूप से पालन न कर पाने के कारण वह अणुव्रती है, एकदेश रत्नत्रय का पालक है। रत्नत्रय धारक होने से ही ‘श्रावक’ संज्ञा सार्थक मानी गई है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने गृहस्थ साधक के लिए ‘सावय’ (श्रावक) और सागार शब्द प्रयुक्त किए हैं, उन्होंने ‘श्रावक’ को सग्रन्थ (परिग्रह सहित) संयमाचरण का उपदेश दिया है। पञ्चाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का संयमाचरण बताकर देशविरत श्रावक की दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रौषध, सचित्र त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग ये ग्यारह

श्रेणियाँ भी बतायी हैं।

श्रावक और सम्यक्त्व का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना श्रावक हो ही नहीं सकता है, इसीलिए श्रावक धर्म पर सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य श्री समन्तभद्र ने प्रथमतः सम्यग्दर्शन की महिमा पर प्रकाश डाला है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, ज्ञान और चारित्र से पहिले प्राप्तव्य है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं है जैसाकि आचार्य श्री समन्तभद्र ने कहा है-

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३१॥

जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ज्ञान और चारित्र से भी सम्यक्त्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग में कर्णधार है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने सम्यक्त्व की प्रथम भूमिका का वर्णन करते हुए कहा है-

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।

तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रञ्च ॥ -पुरुषार्थसिद्धयुपाय

रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का अखिल प्रयत्न पूर्वक आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं, जिससे मोक्षमार्ग बनता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा सभी आचार्यों ने गाई है। भावपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है-जैसे ताराओं में चन्द्र और समस्त मृगकुलों में मृगराज सिंह प्रधान है, उसी प्रकार मुनि और श्रावक दोनों धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है। जैसे कामधेनु कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को प्राप्त करके मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है वैसे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है। और भी कहा है कि जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट है, उसे मोक्ष लाभ कभी नहीं हो सकता है, किन्तु जो चारित्रभ्रष्ट है और दर्शनभ्रष्ट नहीं है, वह पुनः चारित्र प्राप्त कर मुक्ति का वरण कर लेता है। जो पुरुष सम्यक्त्व रूप रत्न से भ्रष्ट है तथा अनेक शास्त्रों को जानते हैं तथापि आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं। आचार्य शिवार्य ने भी इसकी महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है- “समस्त दुःखों का नाश करने वाले सम्यक्त्व में प्रमाद मत करो क्योंकि ज्ञानाचार, चारित्राचार, वार्याचार और तप-आचार का आधार सम्यग्दर्शन है। जैसे नगर में प्रवेश करने का उपाय उसका द्वार है, वैसे ही ज्ञानादि की प्राप्ति का द्वार सम्यग्दर्शन है। जैसे आँखें-मुख की शोभा बढ़ाती हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादि की शोभा है। जैसे वृक्ष की स्थिति का

कारण उसका मूल होता है वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञानादि की स्थिति का कारण है।

सम्यक्त्व की महिमा का व्याख्यान करने के साथ मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है इस शंका का समाधान भी आचार्यों ने किया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने “सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” सूत्र में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया है। इसके टीकाकार पूज्यपाद, भट्टकलंक देव, विद्यानन्द प्रभृति आचार्यों ने स्वयं शंका उठायी है कि सम्यक्त्व को प्रथम स्थान क्यों दिया और सभी ने एक ही समाधान दिया कि सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान में सम्यक्पना आता है। जैसा कि तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक में कहा भी है-

ज्ञानसम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हो दर्शनस्य हि।

तद्भावे तदुद्भूतेरभावाद् दूरभ्यवत् ॥1.34 ॥

अर्थात्- ज्ञान के सम्यक्पने में हेतु होने से सम्यक्त्व पूज्य है। सम्यक्त्वोत्पत्ति के न होने पर सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती है। जैसे दूरातिदूरभव्य को भव्य होने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने से सम्यग्ज्ञान नहीं होता है।

आचार्य सोमदेव ने भी कहा है- “सम्यक्त्व एक महान पुरुष देवता है। यदि वह एक बार भी प्राप्त होता है तो संसार को शांत कर देता है। कुछ समय बाद ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति होती ही है। परलोकसम्बन्धी सुखों के साथ मोक्ष का प्रथम कारण है। स्वामिकार्तिकेय का कहना है कि व्रतरहित होने पर भी स्वर्गसुख को देने वाला है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं चारित्र और ज्ञान से रहित अकेला सम्यग्दर्शन भी प्रशंसनीय है। आचार्य वसुनन्दी ने कहा है कि जो जीव सम्यक्त्वरहित है, उसके अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ नहीं होती हैं। सम्यक्त्व के बिना श्रावक का कोई भी व्रत न हो पाने के कारण सम्यक्त्व की श्रावक के लिए अनिवार्यता है। अतः सम्यक्त्व की लब्धि, कारण, स्वरूप और भेदों पर भी विचार आवश्यक है।

कषायों की मन्दता और परिणामों की भद्रता वाले किसी भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीव को सम्यक्त्व की भूमिका बनती है। जब किसी भव्य जीव का अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है, तब उसके सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता बनती है और पाँच लब्धियों के प्राप्त होने पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है। लब्धियों का स्वरूप शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है-

1. क्षयोपशमलब्धि - ज्ञानावरण आदि कर्मों की शक्ति प्रति समय अनन्तगुणी हीन होती हुई उदय में आना क्षयोपशम लब्धि है।

2. विशुद्धिलब्धि - प्रथम लब्धि के कारण वेदनीय, शुभ नाम, उच्चगोत्र, इत्यादि रूप पुण्य प्रकृतियों के बन्धन योग्य जो जीव के परिणाम हैं, उन परिणामों का होना विशुद्धिलब्धि है।

3. देशनालब्धि - छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि के उपदेशक गुरु का मिलना, उपदिष्ट तत्त्वों का चिन्तन, धारण मनन होना

देशनालब्धि है।

4. प्रायोग्यलब्धि - ज्ञानावरण आदि कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे विशुद्ध परिणामों द्वारा घटा-घटा के केवल अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थापित करना तथा पाषाण अस्थि, दारु और लता रूप चार प्रकार की जो अनुभागशक्ति है, उसे घटाकर द्वितीय स्थानीय दारु और लतारूप स्थापित करना प्रायोग्यलब्धि है।

करणलब्धि - अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों की प्राप्ति होना करणलब्धि है।

प्रथम चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती हैं, किन्तु करणलब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है और उसके होने पर नियम से सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले के विषय में नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं-

चदुगदि भव्यो सण्णी पञ्चतो मुञ्जगो य सागारो।

जागारो सल्लसो सलद्धिगो सम्मुवगमई ॥651 ॥ गो.जीव

चारों गति वाला भव्य जीव संज्ञी, पर्याप्तक विशुद्ध भाव वाला, साकारोपयोगी, जागृत, शुभलेश्यायुक्त और करणलब्धि को प्राप्त सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने वाला प्राणी सम्यक्त्व के अन्तरंग और बहिरंग कारणों को जानना भी आवश्यक समझता है, अतः उन पर भी संक्षिप्त चर्चा करना सामयिक होगा।

“निकट भव्यता को प्राप्त होना, कर्मों की स्थिति का अत्यन्त घट जाना, मिथ्यात्व आदिक कर्मों का उपशमादिक हो जाना हेय और उपादेय को ग्रहण करने वाले मन का प्राप्त होना, और परिणामों की शुद्धता का होना आदि सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण हैं। जातिस्मरण, देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का उपदेश प्राप्त होना, देवों की ऋद्धि का देखना, देवदर्शन करना, वेदना का तीव्र अनुभव होना, पञ्चकल्याणक आदि महोत्सवों की विभूतियों को देखना सम्यग्दर्शन के बाह्य कारण हैं।

अन्तरंग और बहिरंग कारणों के होने पर प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं-“हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में और निर्ग्रन्थ गुरु के प्रवचन में श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। आस आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी श्रावकों द्वारा पालनयोग्य सम्यग्दर्शन का स्पष्ट व्याख्यान करते हैं-

श्रद्धानं परमार्थानामासागमतपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥4 ॥ रत्न. श्रा.

परमार्थस्वरूप देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढता रहित आठ मद रहित, आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अभिप्राय यह है कि जब आत्मा में दर्शनमोह का उदय नहीं रहता, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में अटूट श्रद्धा भक्ति जागृत होती है। जिनोपदिष्ट जीवादि सात तत्त्वों में प्रगाढ़ रुचि पैदा होती है। अपने आपकी

प्रतीति होती है। शरीर में मेरा आत्मा भिन्न स्वभाव वाला है ऐसा दृढ़ विश्वास जागृत होता है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाले के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भाव प्रगट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन नियम से निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगयुक्त होना चाहिए। अंगहीन सम्यक्त्व संसार का विच्छेद करने में समर्थ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन में मलिनता पैदा करने वाले पच्चीस दोष हैं। ज्ञानमद, पूजापद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, रूपमद, तपमद, लोकमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, देवमूढ़ता, छह अनायतन एवं आठ अंग के विपरीत शंका, कांक्षा आदि आठ दोष, इन सभी दोषों से रहित सम्यक्त्व मुक्तिमहल में पहुँचाने वाला है।

आगम में सम्यग्दर्शन के सराग और वीतराग, निश्चय और व्यवहार, निसर्गज और अधिगमज, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, आज्ञा आदि विविध दृष्टियों की विवक्षा से भेदों का निरूपण है।

सराग सम्यक्त्व- प्रशम, संवेग आदि गुणों द्वारा जो अभिव्यक्त होता है, अथवा जिसका स्वामी सराग है, वह सराग सम्यक्त्व है। वीतराग सम्यक्त्व- आत्म विशुद्धि रूप अथवा जिसका स्वामी वीतराग है वह वीतराग सम्यक्त्व है।

निश्चय सम्यक्त्व- सम्पूर्ण परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा की प्रतीति (रुचि) निश्चय सम्यक्त्व है।

व्यवहार सम्यक्त्व- तत्त्वार्थश्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व है।

परोपदेश के बिना होने वाला निसर्गज और परोपदेशपूर्वक होने वाला अधिगमज सम्यग्दर्शन होता है।

उपशम सम्यक्त्व- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक् ये तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी की चार कर्म प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से सादि मिथ्यादृष्टि प्रथमपोशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि के एकमिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदयाभावीक्षय एवं सदवस्थारूप उपशम होने से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने से क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्व- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चार कषाय इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मुक्ति रूपी प्रासाद का प्रथम सौपान सम्यग्दर्शन श्रावक का मुख्य अलंकरण है। इसके बिना व्रतों का कोई महत्त्व नहीं अथवा व्रतों का पालन असंभव है। अत्रती की श्रावक संज्ञा किसी भी शास्त्र में देखने को नहीं मिलती। हाँ सम्यक्त्व से शून्य कोई व्यक्ति कितनी भी तपस्या करे उससे कोई लाभ नहीं है, जैसा कि

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

सम्पत्त विरहिया णं सुदु वि उगं तवं चरंता णं।

ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्स कोडीहिं ॥5॥ दंसणपाहुड सम्यक्त्व से रहित मनुष्य भले प्रकार से कठोर तपश्चरण करें, तो भी हजार करोड़ वर्षों में भी उन्हें बोधि का लाभ नहीं होता।

इस प्रकार सम्यक्त्व का श्रावक जीवन में महत्त्व को समझ लेने पर स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिणाम रूप व्रतों की स्थिति बनती है। इन व्रतों का एक देश पालन करने वाला देशविरत चारित्र का धारी श्रावक है। अणुव्रत धारक के गुणों में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने वाले गुणव्रत होते हैं। विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षाव्रत होते हैं। अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत मिलकर श्रावक के द्वादश व्रत होते हैं। इन द्वादश व्रतों का धारी पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक है। इसकी लेश्या शुभ होती है। श्रावक के नियम से देवायु का बन्ध होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि (कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्च) के नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य का बन्ध ही नहीं होता। यदि आयु बन्ध के बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई तो बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्मभूमिज सम्यग्दृष्टि जीव चारों गतियों में जा सकता है। व्रतों की यह विशेषता है कि वह गृहस्थ को श्रावक संज्ञा से विभूषित करा देते हैं। श्रावक सम्यग्दर्शन से सम्पन्न ही होता है। सम्यक्त्व और श्रावक में उपकारक-उपकार्य सम्बन्ध है। सम्यक्त्व श्रावक का परम उपकारक है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना, श्रावक का अस्तित्व ही नहीं है। अतः श्रावक के लिए सम्यक्त्व सर्वाधिक महत्त्वशाली है। जीवन को पवित्र करने वाला है। आत्मशुद्धि को उत्पन्न करने वाला है। श्रावक को मोक्षमार्ग पर चलाने के लिए सहकारी है। सम्पूर्ण इच्छित लाभ को देने वाला है। मोक्षप्राप्त में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है-

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।

दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥39॥

जो दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है, सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। जो सम्यक्त्व से रहित है उसे इच्छित लाभ नहीं होता है।

इस प्रकार श्रावक के जीवन में सम्यक्त्व की महत्ता को जानकर कहा जा सकता है कि श्रावक के लिए सम्यग्दर्शन से बड़ी अन्य कोई सम्पदा नहीं है, उसे प्राप्त कर लेने से श्रावक द्वारा सब कुछ पा लिया जाता है, और उसके खो देने से सब कुछ खो दिया जाता है। अतः श्रावक को सम्यग्दर्शन की सुरक्षा के लिए निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

उपाचार्य (रीडर), संस्कृत विभाग,
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत-250611

धर्ममाता चिरोंजाबाई

डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'

शिक्षा और संस्कृति के उत्थान की महान प्रेरिका नारी के रूप में चिरोंजाबाई जी का अग्रणी स्थान है। वे श्री गणेशप्रसादजी वर्णी की धर्ममाता के रूप में विख्यात हुई हैं। सभी उन्हें 'बाईजी' कहकर पुकारते थे। उनका जन्म शिकोहाबाद के एक धार्मिक परिवार में हुआ था। श्री मौजीलालजी उनके पिता थे। उन्हें माता-पिता से श्रेष्ठतम संस्कार मिले और सामान्य शिक्षा भी प्राप्त की।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश

चिरोंजाबाई के 18 वर्षीया होने पर सिमरा ग्राम (जिला-टीकमगढ़, म.प्र.) के निवासी श्री भैय्यालालजी सिंघई से उनका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ। नवदम्पति ने अपना गृहस्थ जीवन आरंभ किया।

तीर्थयात्रा, पतिवियोग एवं आत्मबोध

विवाह के कुछ समय पश्चात् ही नवदम्पति ने तीर्थयात्रा करने का संकल्प कर घर से प्रस्थान किया। तीर्थों की वन्दना करते हुए जब वे पावागढ़ पहुँचे तो वहीं पति के देहावसान की अनहोनी घटना घट गयी। वे वैधव्य वेदना से इतनी अधिक विचलित/ व्यथित हो गयीं कि आत्महत्या करने का निश्चय कर कुएँ पर पहुँचीं, पर धार्मिक सुसंस्कारों के प्रभाव से तुरन्त ही उनका विवेक जागृत हुआ। उन्हें यह बोध हो गया कि जिसका संयोग होता है उसका वियोग अवश्य ही होता है। आत्मबोध होते ही आत्महत्या का घृणित विचार उन्होंने सदा के लिए त्याग दिया, वे वापिस लौटीं और जीवन पर्यन्त एक बार भोजन और दो बार जलग्रहण का नियम लेकर अपने आत्महत्या के घृणित विचार का पश्चात्ताप किया। गृहनगर आकर चिरोंजाबाई ने सर्वप्रथम कर्जदार कृषकों के कर्ज माफ कर दिए। अब वे स्वाध्याय और ज्ञानीजनों की सत्संगति में समय बिताने लगीं।

धर्मपुत्र की प्राप्ति व शिक्षा संस्कृति के उत्थान में योगदान

एक बार बाईजी के घर एक बीसवर्षीय संकोची, ज्ञान-पिपासु, उदार और दृढ़ प्रतिज्ञ युवक भोजन हेतु आया। इस युवक का नाम था, गणेशप्रसाद। इनको देखकर चिरोंजाबाईजी का मातृहृदय उमड़ पड़ा। उनके वक्षस्थल से दुग्धधारा बह निकली, वह उन्हें जन्मजन्मान्तर का पुत्र प्रतीत हुआ। उन्होंने श्री गणेशप्रसादजी को धर्मपुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया। धर्मपुत्र के मन में तीव्र ज्ञानपिपासा थी। वे संस्कृत, प्राकृत, न्याय आदि विद्याओं के पंडित बनना चाहते थे, पर ज्ञान प्राप्ति के साधनों का अभाव था। माता चिरोंजाबाई जी ने इसे सहज ही दूर कर उन्हें अध्ययनार्थ बनारस भेज दिया। यहीं के एक विद्वान् ने साम्प्रदायिक संकीर्ण भावना के कारण उन्हें पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने

गणेशप्रसाद जी का अपमान भी किया। उन्हें अपनी धर्ममाता का पढ़ाने का स्वप्न अधूरा प्रतीत होने लगा। पुत्र का अपमान भारत के लिए वरदान बन गया। बाईजी व अन्य विद्वानों ने गणेशप्रसादजी को बनारस में ही एक महाविद्यालय खोलने हेतु प्रेरित किया। उन्होंने दानरूप में प्राप्त एक रुपये से चौंसठ पोस्टकार्ड खरीदे और समाज के विशिष्ट व्यक्तियों को महाविद्यालय खोलने की इच्छा से अवगत कराया। सभी ने उनके इस विचार की सराहना/समर्थन करते हुए यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया। परिणामस्वरूप श्रुत पंचमी के दिन सर्वप्रथम 'स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय काशी' की स्थापना हुई।

अपनी धर्ममाता से मार्गदर्शन प्राप्त कर, गणेशप्रसाद जी ने गुरु अम्बादासजी एवं श्री जवाहरलाल नेहरू के पिता पं. मोतीलाल नेहरू की सहायता से काशी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन व न्याय का अध्ययन आरम्भ कराया।

वीर निर्वाण संवत् 2435, अक्षय तृतीया के दिन बुंदेलखण्ड के केन्द्रस्थल सागर में सत्तर्क सुधा तरंगिणी जैन पाठशाला की स्थापना भी चिरोंजाबाईजी व गणेशप्रसादजी वर्णी के प्रयास से हुई जो आज श्री वर्णी दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय मोराजी के नाम से सुचारुरूप से चल रही है।

कटनी में पाठशाला, खुरई में 'वर्णी गुरुकुल महाविद्यालय' जबलपुर में 'वर्णी गुरुकुल महाविद्यालय', बीना में 'नाभिनन्दन दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय', द्रोणगिरि तीर्थक्षेत्र पर 'श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन पाठशाला', पपोरा तीर्थक्षेत्र पर 'श्री वीर विद्यालय', पठा ग्राम में 'श्री शान्तिनाथ विद्यालय', सादूमल, मालथौन, मड़ाबरा, बरुआ सागर, शाहपुर में विद्यालयों की स्थापना हुई जिनकी मूल प्रेरणास्रोत 'बाईजी' ही थीं। सन् 1935 में खतौली में स्थापित 'कुन्दकुन्द विद्यालय' ने आज महाविद्यालय का रूप ले लिया है। इसी प्रकार ललितपुर में स्थापित वर्णी इन्टर कॉलेज एवं महिला इन्टर कॉलेज वर्तमान में वर्णी जैन महाविद्यालय के रूप में गतिशील हैं।

शिक्षा संस्थाओं के साथ उदासीन आश्रमों की स्थापना में भी बाईजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन्दौर, कुण्डलपुर, ईसरी आदि में स्थापित उदासीन आश्रम बाईजी व वर्णीजी की ही देन हैं।

शिक्षा संस्थाओं व उदासीन आश्रमों की स्थापना हेतु बाईजी, गणेशप्रसादजी वर्णी, बाबा भागीरथ वर्णी, दीपचन्द्रजी वर्णी आदि विद्वानों के साथ आर्थिक सहयोग हेतु गाँव-गाँव गयीं, दीर्घकाल तक तपस्या की और पूर्णरूपेण सफल हुईं।

बाईजी का शिक्षा आन्दोलन धर्म, जाति, गरीबी-अमीरी के भेद से परे सभी-वर्गों तथा स्त्री-पुरुषों दोनों के लिए समान रूप से चला। उनकी दृष्टि से नारी शिक्षा राष्ट्रीय विकास का मूल आधार है। राजसत्ता जो कार्य नहीं कर सकती वह बाईजी ने वर्णीजी के सहयोग से सहज ही कर दिखाया।

तीर्थोद्धार

बाईजी की प्रेरणा व सहयोग से वर्णीजी ने पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों तथा तीर्थस्थानों में विद्यालयों व गुरुकुलों की स्थापना की जिससे वहाँ पर मन्दिर, छात्रावास, पुस्तकालय और धर्मशाला का निर्माण हुआ। तीर्थ पूर्णरूपेण सुरक्षित व संरक्षित हो गये।

उदारता व दया की जीती जागती मूर्ति

वर्णीजी ने मेरी जीवन गाथा में धर्ममाता चिरोँजाबाईजी को गुणरूपी रत्नों का सागर, ज्ञान के प्रति जागरूकता, उदारता, सौम्यता आदि अनेक गुणों से सम्पन्न बतलाया है और अनेक संस्मरण दिये हैं। बाईजी से प्रभावित हुई एक दसवर्षीया अछूत बालिका ने अपने मांसाहारी परिवार को पूर्णतया शाकाहारी बना दिया। बाईजी की उदारता और अहिंसा परिणामों से प्रभावित हो हिंसक प्राणी बिल्ली भी अहिंसक बन दूध-रोटी खाने लगी थी। चूहों के द्वारा जब बाईजी की भोजन सामग्री खराब कर दी जाती तो एक दिन बाईजी कहने लगी कि “तुम रोज भोजन खराब कर देते हो तो मेरा बेटा भूखा रह जाता है और मैं भी। हमारे यहाँ थोड़ी सी ही सामग्री रहती है, जिनके यहाँ बहुत खाने मिले वहाँ जाओ तो ठीक रहे।” बाईजी के इन वचनों से प्रभावित हो चूहे वहाँ से चले गये। फिर उन्होंने जीवन पर्यन्त चूहों को घर में नहीं देखा ऐसा था बाईजी का प्रभाव **दृढ़ता, धैर्य व समता की मिसाल**।

बाईजी दृढ़ता धैर्य और समताभाव की साक्षात् मूर्ति थीं। एक बार उन्हें तीर्थवन्दना करते समय अपने आवासीय घर में चोरी होने का समाचार मिला। उस समय वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने धैर्य व समता का परिचय देते हुए पाँच वन्दना अधिक कर तीर्थयात्रा पूरी कर के ही घर लौटने का निर्णय कर लिया। अच्छी तरह से तीर्थवन्दना कर घर पहुँची तो पाया एक भी पैसा चोरी नहीं हुआ था।

बाईजी में दृढ़ता इतनी अधिक थी कि शिरशूल वेदना, मोतियाबिंद का अंधापन या बैल के मारने पर हाथ का मांस फट जाना आदि कोई भी शारीरिक वेदना उन्हें विचलित नहीं कर पाती थी। लोभी डाक्टर से आँख का ऑपरेशन कराने के बजाय उन्होंने जीवन भर अंधा रहना श्रेष्ठ समझा। उन्होंने एक सहृदय अँग्रेज चिकित्सक से मोतियाबिंद का ऑपरेशन कराया और वह चिकित्सक भी बाईजी से अत्यन्त प्रभावित हो कर सपरिवार शाकाहारी बन गया। बाईजी ने उसे पुत्रवत् स्नेह के साथ ‘पीयूषपाणि’ का मंगलमय आशीर्वाद दिया।

बाईजी आजीवन स्वाध्याय चिन्तन, मनन, धर्मारामन में रत रहीं। वे आध्यात्म और कर्मसिद्धान्त की ज्ञाता थीं। उनकी दृष्टि

में परपदार्थ सुख-दुःख के कारण नहीं थे। जीवनमरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि प्राणी के पूर्वोपार्जित कर्मों के फल हैं। अध्यात्मदर्शन से बाईजी ने अपना आत्मशान्ति का पथ प्रशस्त किया। मानवीय जीवन मूल्यों को उन्होंने जीवन में उतारा। भेदज्ञान द्वारा परपदार्थों की भिन्नता का अनुभव कर उन्होंने निजी सम्पत्ति भी दान कर दी। जीवन यापन के लिए मात्र रु. दसहजार रखकर बरुआसागर रहने लगीं। कुछ समयबाद वे सागर आ गयीं। वहाँ 75 वर्ष की आयु में उन्होंने वीतराग प्रभु की आराधना करते हुए समताभाव पूर्वक पार्थिव देह को त्याग दिया।

मात्र बुंदेलखण्ड ही नहीं समग्र भारत में ज्ञान ज्योति जगाने का जो श्रेय चिरोँजाबाई जी को है वह किसी भी विद्यालय या विश्वविद्यालय के संस्थापकों को नहीं मिल सकता। धर्मपुत्र श्री वर्णीजी के साथ किया गया उनका पुरुषार्थ निरन्तर प्रकाशमान दीपस्तम्भ है, जिससे एक करोड़ से अधिक विद्यार्थी आलोकित हो चुके हैं और आगे भी सतत धर्म, दर्शन, न्याय और संस्कृति का आलोक प्राप्त करते रहेंगे। शिक्षा, संयम और लोक सेवा में जीवन समर्पित करने वाली पूज्या बाईजी सदैव स्मरणीय रहेंगी।

भगवान् महावीर मार्ग
गंजबसौदा

गज़ल

डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय ‘विजय’

प्रवचन बैठ सुना था दिन भर,
श्रद्धा भक्ति सना था दिन भर।

पंख लगा कल्पना उड़ी थी,
स्वर्गिक स्वप्न बुना था दिन भर।

खट् खट् भावना जुलाहे ने,
प्रेम कपास धुना था दिन भर।

अनायास चित्त के मंदिर में,
उत्सव पर्व मना था दिन भर।

संकल्पों की शुचि ईंटों ने,
नैतिक भवन चुना था दिन भर।

तन मन के सूने आँगन में
नैतिक शिविर तना था दिन भर

डूब ज्ञान के सर में गहरे,
अशरण शरण गुना था दिन भर।

सिविल लाइन्स कोटा (राज.)-324001

भगवान् महावीर की जन्मभूमि कहाँ?

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

जब भगवान् महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के मनाए जाने की घोषणा की गई और भारत सरकार ने उसके बहुआयामी रचनात्मक कार्यक्रमों के लिए 100 करोड़ रुपयों के आवण्टन की स्वीकृति दी, तो उससे जैन समाज में सर्वत्र हर्षोल्लास छा गया। विभिन्न समितियों तथा उनके नेताओं एवं मार्ग-दर्शकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से बृहद् योजनाएँ बनाई, बजट बनाए और तदनुसार भारत सरकार से उनकी आपूर्ति हेतु अपनी-अपनी माँगें प्रस्तुत कीं। इसमें किसी के लिए विरोध करने का कोई प्रश्न ही न था।

किन्तु दुःख तो तब हुआ, जब समारोह के मूलनायक भगवान् महावीर के जन्म स्थल को लेकर ही विवाद खड़े किये जाने लगे। किसी ने नालन्दा के समीपवर्ती कुण्डलपुर को उनका जन्म स्थल बतलाना प्रारम्भ कर दिया, तो किसी ने मुंगेर स्थित लिछुवाण को, जब कि विदेह स्थित वैशाली-कुण्डलपुर की युगों-युगों से उनकी जन्मस्थली के रूप में मान्यता चली आ रही है। गनीमत यही रही कि दमोह (मध्यप्रदेश) के समीपवर्ती कुण्डलपुर को उनकी जन्मभूमि घोषित नहीं किया।

प्रारंभ में ऊहापोह चल ही रही थी कि एक महान् संस्था ने अपने एक सम्मेलन के प्रसंग में उसकी संगोष्ठी का एक ऐसा विषय रख दिया, जिसका शीर्षक था-“महावीर स्वामी की जन्मभूमि कुण्डलपुर है, वैशाली नहीं।” किन्तु सम्मेलन संगोष्ठी का उक्त विषय देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता नहीं हुई और मैंने आयोजकों के उक्त विचार से अपनी असहमति जताई थी। दिनांक 26 जनवरी 2001 को मैंने एक संक्षिप्त पत्र भी लिखा था, जिसमें आचार्य गुणभद्र तथा अन्य कुछ जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों तथा पुरातात्विक सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए सादर निवेदन किया कि भगवान् महावीर की जन्मस्थली विदेह स्थित (अथवा वैशाली स्थित) कुण्डलपुर ही है, और इस समय जन्मस्थली को लेकर किसी भी प्रकार के भ्रम अथवा विवाद खड़े करने से जैनेतरों तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों में गलत सन्देश जायगा कि जैन समाज असंगठित है, जो समाज के भविष्य के लिये हितकारी नहीं, क्योंकि यह ऐतिहासिक तथ्य है कि पिछले पारस्परिक विवादों ने जैन-संघ की शक्ति को बिखेर दिया है।

प्रारंभ में जैन समाज बहुसंख्यक, श्रीसमृद्ध एवं सुसंगठित होने के कारण न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी अत्यन्त सम्मानित एवं प्रभावक था। पिछला इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। किन्तु आज उसकी क्या स्थिति होती जा रही है?

यह तो सर्वज्ञात ही है कि ईसा पूर्व चौथी सदी में मगध सहित समस्त पूर्व एवं उत्तर भारत में भीषण दुष्काल पड़ा था और इस कारण श्रमण धर्म एवं संघ की सुरक्षा हेतु आचार्य भद्रबाहु

ससंघ अपने नवदीक्षित शिष्य मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के साथ दक्षिण भारत गये थे। उस भीषणता में मगध एवं विदेह से निर्ग्रन्थों को स्थान-परिवर्तन के लिये बाध्य होना पड़ा था। यह विषम स्थिति आगे भी विपरीत परिस्थितियों के कारण बढ़ती रही। फिर भी किन्हीं कारणों से कुछ जैनधर्मानुयायी एवं निर्ग्रन्थ वहाँ रह गये थे। क्योंकि सुप्रसिद्ध चीनी यात्रियों ने विदेह-वैशाली के निर्ग्रन्थों की प्रचुरता की चर्चा की है। किन्तु बाद में वे सब निर्ग्रन्थ कहाँ चले गये? क्या कभी इस तथ्य पर भी विचार किया गया है? तह में जाकर देखें तो विदित होगा कि ईसा-पूर्व तीसरी सदी के बाद से लेकर गुप्त काल के मध्य जैन समाज पर इतर ईर्ष्यालुओं ने कितने-कितने कहर ढाए? शैवों एवं शाक्तों ने जैनियों को नास्तिक कहकर “हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरं” के नारे लगाकर दक्षिण भारत के समान ही वहाँ भी भीषण नरसंहार किये, उनका धर्म-परिवर्तन किया गया अथवा उनको अपने देश के बाहर खदेड़ भी दिया गया। यहाँ तक कि उनके आयतनों के नामोनिशान तक भी समाप्त कर दिये गये। इन्हीं सब कारणों से परवर्ती कालों में वैशाली-कुण्डलपुर तथा उसके भवनों, आयतनों एवं वहाँ के श्रमण-निर्ग्रन्थों का वहाँ कोई स्थूल नाम-निशान भी न रहा।

प्राच्यकालीन अफगानिस्तान, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल एवं भूटान के सामाजिक इतिहास के अध्ययन से इसकी अच्छी जानकारी मिल सकती है।

इस प्रसंग में मुझे एक दुःखद स्मरण आ रहा है। देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी (प्रथम राष्ट्रपति) वैशाली में महावीर स्मारक का शिलान्यास कर रहे थे। उसमें अनेक मंत्रीगण, नेतागण, जैन समाज के प्रतिष्ठित नेतागण, प्रो. डॉ. हीरालाल जी जैन आदि उपस्थित थे। डॉ. हीरालाल जी ने स्मारक के विषय में जो प्राकृत-पद्य लिखे थे, वे उनका पाठ तथा हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे थे। सर्वत्र हर्ष का वातावरण था, किन्तु एक सज्जन, जो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वरिष्ठ एवं ख्यातिप्राप्त प्रोफेसर थे, वे अपने एक साथी से कह रहे थे कि जिन नास्तिकों को यहाँ से उखाड़ने एवं भगाने में सदियाँ लग गईं, अब उन्हें ही फिर से यहाँ बुलाने एवं स्थापित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। वस्तुतः वे सज्जन स्थानीय ही थे और उनके ये विचार कुछ समय तक वहाँ चर्चा के विषय भी बने रहे थे।

हमारे प्राचीन महामहिम आचार्यों को ग्रन्थ-लेखन के काल में अपने-अपने स्थलों पर जो भी प्रत्यक्ष या परोक्ष जानकारी मिली, उसके आधार पर उन्होंने भगवान् महावीर के चरित का चित्रण किया। भले ही उनमें यत्किञ्चित् विभेद रहा हो, फिर भी अधिकांश ने एक मत से उस तथ्य की सूचना अवश्य दी कि

भगवान् महावीर का जन्म विदेह-देश के कुण्डपुर या कुण्डलपुर में हुआ था, यही सबसे बड़ा एवं सर्वसम्मत प्रमाण भी सिद्ध हो गया, जिसके अनुसार भगवान् महावीर का जन्म विदेह में स्थित कुण्डपुर या कुण्डलपुर में ही हुआ था, अन्यत्र नहीं। फिर भी किसी विशेष दृष्टिकोण से विशेष वर्ग द्वारा इस दीर्घकालीन मान्यता को नकारा जाने लगा है।

विदेह-देश की भौगोलिक स्थिति युगों-युगों से सुनिश्चित है, और अधिक नहीं, तो भी पिछले लगभग 3 हजार वर्षों से तो वह गंगा नदी के उत्तर में ही स्थित है, जिसके साक्ष्य जैन-जैनैतर सभी साहित्य में उपलब्ध हैं, जब कि गंगा-नदी के दक्षिण में मगध देश स्थित है। इस भूगोल में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। मगध सम्राट श्रेणिक एवं अजातशत्रु के इतिवृत्त से यह भी सुनिश्चित है कि गंगा के आर-पार स्थित विदेह एवं मगध परस्पर में विरोधी साम्राज्य रहे।

अब यदि मगधदेशान्तर्गत नालन्दा वाले कुण्डलपुर को भगवान् महावीर की जन्मस्थली मान लिया जाय, तो फिर यही मानना पड़ेगा कि भारत की चारों दिशाओं के महान साधक आचार्य पूज्यपाद (5वीं शती), आचार्य जिनसेन (8वीं शती), आचार्य गुणभद्र (9वीं शती), आचार्य असग (10 वीं शती), आचार्य पद्मकीर्ति (10वीं शती), आचार्य दामनन्दि (11 वीं शती), विबुध श्रीधर (12वीं शती), पं. आशाधार (13वीं शती), महाकवि सकलकीर्ति, (15वीं शती), महाकवि रङ्गधू (16वीं शती), महाकवि पद्म (16वीं शती) एवं कवि धर्मचन्द्र (17वीं शती), आदि-आदि ने भगवान् महावीर की जन्मभूमि विदेह स्थित कुण्डलपुर (या कुण्डपुर) को जो बतलाया है, तद्विषयक उनका वह कथन क्या भ्रामक अथवा मिथ्या है? 20वीं शती के प्रारंभ से ही देश-विदेश के दर्जनों प्राच्य विद्याविदों एवं पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने भी निष्पक्ष एवं दीर्घकाल तक अथक परिश्रम पर विविध जैन-जैनैतर साक्ष्यों पर विदेह स्थित कुण्डलपुर को ही भगवान् महावीर की जन्मस्थली सिद्ध किया है, तो क्या उनकी वे खोजें भी अविश्वसनीय, अनादरणीय अथवा मिथ्या हैं?

किसी भी देश या नगर या साहित्य का प्रामाणिक इतिहास मात्र कुछ दिनों या महिनों में तैयार नहीं हो जाता। वह दीर्घकालीन विविध प्रमाणों के संग्रह एवं उनके तुलनात्मक अध्ययन से ही संभव है। विदेह-कुण्डलपुर के विस्मृत इतिहास की खोज में सदियों का समय लगा है। निष्पक्ष इतिहासकारों ने विविध तथ्यों का संग्रह कर जब उनका तुलनात्मक अध्ययन कर उसे प्रस्तुत किया है, तब फिर उसमें अप्रामाणिकता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? और पूर्वोक्त दिग्म्बर जैनाचार्यों ने जब विदेह स्थित कुण्डलपुर स्पष्ट ही घोषित किया है तो फिर मगध का कुण्डलपुर महावीर की जन्मभूमि कैसे हो सकता है? फिर भी यदि वह परिवर्तन किया जाता है, तो गंगा के उत्तर में स्थित वैदेही सीता की भूमि-मिथिला (विदेह) आदि को भी मगध में मान लेना पड़ेगा या उन तीर्थकरों-मल्लि एवं नमि की जन्मभूमि मिथिला-विदेह को भी मगध के अन्तर्गत मानना पड़ेगा।

20 अक्टूबर-नवम्बर 2002 जिनभाषित

यह आश्चर्य का विषय है कि कुछ सुयोग्य विद्वान् 14वीं सदी के यति मदनकीर्ति या 20वीं सदी की प्रकाशित दिल्ली जैन डायरेक्टरी या 1998 में प्रकाशित भारत जैन तीर्थदर्शन में वैशाली-कुण्डपुर का उल्लेख न होने से अपने पक्ष के समर्थन का सबल प्रमाण तो मानते हैं, किन्तु आचार्य पूज्यपाद एवं गुणभद्रादि के विदेह-स्थित कुण्डलपुर सम्बन्धी उल्लेख को प्रामाणिक नहीं मानना चाहते।

एक ओर तो वे श्वेताम्बर या बौद्ध-साहित्य को मान्यता भी नहीं देना चाहते और दूसरी ओर वे अपने पक्ष के समर्थन में भगवतीसूत्र, समवायांग-सूत्र आवश्यक-निर्युक्ति के उद्धरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। एक ओर तो जैनैतर विद्वानों को वे मान्यता नहीं देते, जबकि दूसरी ओर अपने पक्ष के समर्थन में उनकी मान्यताओं की सराहना भी कर रहे हैं। कैसा विरोधाभास है?

जिन हर्मन याकोवी प्रभृति पाश्चात्य तथा डॉ. प्राणनाथ, डॉ. आर. पी. चंदा प्रभृति प्राच्य इतिहासकारों ने जैनधर्म को हिन्दू या बौद्धधर्म की शाखा मानने वालों के कुतर्कों का निर्भीकता के साथ पुरजोर खण्डन कर उसे प्राचीनतम एवं स्वतन्त्र धर्म घोषित किया और हड़प्पा-संस्कृति को उससे प्रभावित बतलाया, तब उसे तो मान्यता दे दी गई, किन्तु अब उन्हीं अथवा उनकी परम्परा के विद्वानों के द्वारा अन्वेषित और घोषित विदेह-कुण्डलपुर का विरोध भी किया जा रहा है। यहाँ तक कि उन्हें अज्ञानी भी कहा जा रहा है। यह भी कहा जा रहा है कि उनकी बातों को मानने से हम कुपथगामी हो जावेंगे। एक निष्पक्ष इतिहासकार के लिये ऐसा कहना कहाँ तक उचित है?

ये आदरणीय सुयोग्य विद्वज्जन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोटिग्राम का परिवर्तन कुण्डग्राम में हो पाना असम्भव मानते हैं। यदि उनकी यही बात युक्तिसंगत है, तो फिर चन्द्रगुप्त से सेंड्रोकोटोस, सूतालूटी से कलकत्ता या कोलाकात्ता, अरस्तु से अरिस्टोटल, अलेग्जेंडर से सिकन्दर, इजिप्ट से मिश्र, उच्छ्रकल्प से ऊँचेहरा, किल्ली से दिल्ली, कोटिशिला से कोल्हुआ, बकासुर से बकरस, रतिधव से रङ्गधू, त्यागीवास से चाईवासा, कलिंग से उड़ीसा, चन्द्रवाडपट्टन के चंदवार, गोपाचल से ग्वालियर, आरामनगर से आरा, कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र से पटना, सिंहल से श्रीलंका तथा सिलोन के परिवर्तित नाम भी सही नहीं माने जाने चाहिये क्योंकि उन समादरणीय विद्वानों की दृष्टि से Proper Noun में परिवर्तन ही नहीं हो सकता।

ईसा-पूर्व दूसरी सदी में कलिंग के जैन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल का उल्लेख यदि जैन साहित्य में कहीं नहीं मिलता और अजैन इतिहासकारों ने उसके शिलालेख की अथक खोज कर सम्राट खारवेल के जैनधर्म सम्बन्धी बहुआयामी कार्य-कलापों की विस्तृत चर्चा की और इसके साथ ही अन्धकारयुगीन प्राच्य भारतीय इतिहास के लेखन के लिये डॉ. आर.डी. बनर्जी ने उसे प्रथम प्रकाश-द्वारा घोषित किया, तो क्या इस गहन खोज को भी केवल इसीलिये नकार दिया जाय कि प्राचीन जैन साहित्य में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और वह केवल जैनैतर

इतिहासकारों की खोज एवं प्रारम्भ में उन्हीं के द्वारा उसका किया गया मूल्यांकन प्रकाश में आया है?

वस्तुतः लच्छेदार-भाषा में अपने इतिहास-विरुद्ध विचारों को प्रस्तुत करना शब्दों की कलाबाजी का प्रदर्शन मात्र ही है। इससे प्राचीन इतिहास भ्रम के कुहरे में कुछ समय के लिये भले ही धूमिल पड़ जाय, किन्तु उसके शाश्वत रूप को कभी भी मिटाया नहीं जा सकता।

नालन्दा स्थित कुण्डलपुर को जन्म-स्थली मानने वाले हमारे कुछ आदरणीय विद्वान् अपने ही प्राचीन दिगम्बराचार्यों के कथनों को तोड़-मरोड़ कर तथा उनके भ्रामक अर्थ करके उनके वास्तविक इतिहास को अस्वीकार कर समाज में भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य, बौद्ध-साहित्य एवं पुरातात्विक प्रमाणों को भी अप्रामाणिक घोषित कर शंखनाद किया है कि उनकी मान्यता मानने वाले “अज्ञानी” तथा आगम-विरोधी हैं। इसी क्रोधावेश में वे उन पर कहीं कोई-कोर्ट केस भी दायर न कर दे।

विदेह- वैशाली स्थित कुण्डलपुर को भगवान महावीर की जन्मस्थली सिद्ध करने वाले अनेक सप्रमाण लेख भगवान महावीर स्मृति-तीर्थ-स्मारिका (पटना), वर्धमान महावीर स्मृति ग्रन्थ (दिल्ली), जैन सन्देश (मथुरा), समन्वयवाणी (जयपुर), प्राकृत-विद्या का वैशालिक महावीर विशेषांक (दिल्ली), जैन बोधक, मराठी, (बम्बई) आदि में प्रकाशित हो चुके हैं, अतः उन्हीं प्रमाणों को इस निबन्ध में भी प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति मात्र ही होगी। अतः मेरी दृष्टि से यदि विद्वद्गण विदेह-देश तथा उसकी प्राच्यकालीन अवस्थिति पर बिना किसी पूर्वाग्रह के गम्भीरतापूर्वक विचार कर लें, तो सभी के समस्त भ्रम अपने आप ही समाप्त हो जावेंगे।

विदेह-कुण्डलपुर या कुण्डलपुर के समर्थन में जैन-सन्देश (मथुरा) में अभी हाल में अ.भा. दिग. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्रीमान् साहू रमेशचन्द्र जी (दिल्ली) ने विविध प्रमाणों के साथ अपने सुचिन्तित विचार प्रकाशित किये ही हैं। अतः यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक मानता हूँ।

कोई भी विचारशील व्यक्ति इसका विरोध कभी भी नहीं कर सकता कि किसी भी तीर्थभूमि का विकास न हो, या वहाँ पर कोई नया निर्माण-कार्य न हो। वस्तुतः ये सब कार्य तो होना ही चाहिये, किन्तु वहाँ के इतिहास को बदल कर नहीं तथा दूसरों के लिए “अपराधी” जैसे असंवैधानिक शब्दों का प्रयोग करके नहीं। क्योंकि क्रोधावेश, पूर्वाग्रहपूर्वक एवं इतर-साक्ष्यों को बिना किसी परीक्षण के ही दोषपूर्ण कह देना, ये निष्पक्ष-विचारकों के लक्षण नहीं हैं।

आक्रोश दिखाने से इतिहास नहीं बनता, वह धनराशि की चमक दिखाने से भी नहीं बनता, पूर्वाचार्यों के कथन को तोड़-मरोड़कर नई-नई व्याख्याएँ करने से परम्परा एवं इतिहास में विकृति आती है। बड़े-बड़े खर्चीले सुन्दर ट्रैक्ट्स तथा सचित्र कीमती पोस्टरों के प्रचार से भी सर्वमान्य प्रामाणिक इतिहास नहीं

बन सकता, वह तो बनता है दीर्घकालीन बहुआयामी तुलनात्मक अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से तथा समतावृत्तिपूर्वक सभी उपलब्ध साक्ष्यों के निष्पक्ष अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा लेखन से।

महाजन टोली नं. 2
आरा (बिहार) 802301

दश वृष की संजीवनी

प्रो. डॉ. विमला जैन, 'विमल'

शाश्वत पर्व महान का, भादव मास पुनीत,
धर्माकुर की पौध बन, हरित-फलित वृष नीत।

दश लक्षण हिय धार कर, भव्य बड़े हर्षाय,
मुक्ति रमा जयमाल ले, खड़ी द्वार पर आय।

उत्तम क्षमा पीयूष उर, चउदिश मीत अनेक,
क्रोध विभाव तिमिर हटा, हर्षालोक विवेक।

उत्तम मार्दव वृष महा, मृदुल हिया जगमीत,
मान कटारी फैंक दी, शाश्वत हो गयी जीत।

उत्तम आर्जव सरल मन, मानव बनता भव्य,
मायाचारी छल कपट, दुखद करें भवितव्य।

उत्तम शौच सुश्रेष्ठ है, करता अमल त्रियोग,
लोभ पाप मल पंक में, डूब मरे भव भोग।

उत्तम सत्य की साधना, हित-मित मीठे बैन,
मिथ्या कटु बहु बोलना, हर लेते सुख चैन।

उत्तम संयम वृष बिना, मिले न नर को मुक्ति,
रक्षा प्राणी मात्र की, इन्द्रिय वस कर युक्ति।

उत्तम तप के ताप से, आत्म कनक परमात्म,
द्वादश तप सम्यक किये, कर्म कटे भव्यात्म।

उत्तम त्याग से लोक में, होय स्व-पर कल्याण,
राग द्वेष अरु मोह तज, देहु चतुर्विध दान।

उत्तम आकिंचन धरम, वीत राग विज्ञान,
चतुर्वीस परिग्रह तजे, चढ़े मुक्ति सोपान।

उत्तम ब्रह्मचर्य वृष, ब्रह्मरूप सन्देश,
शील शिरोमणि भव्य का, जगत रहे ना शेष।

दश वृष की संजीवनी देते सन्त सहेज,
'विमल' त्रियोग सुसाध ले, सहज मिले शिव सेज।

1/344, सुहाग नगर, फिरोजाबाद

‘प्राकृत विद्या’ : अनपेक्षित विरोधाभास

दि. जैनागम विरोधी प्रयास

शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन), नई दिल्ली के प्रबन्ध सम्पादन एवं प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन तथा डॉ. सुदीप जैन के सम्पादन के अन्तर्गत प्रकाशित “प्राकृत-विद्या” का जनवरी-जून 2002 वैशालिक-महावीर-विशेषांक देखा। वर्तमान में विश्ववन्द्य भ. महावीर की जन्मभूमि सम्बन्धी विवाद को दृष्टिगत करते हुए यह विदित होता है कि यह शोध-पत्रिका अनेकों विरोधाभासों से भरी है। यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार तथा परम्परा से वन्दनीय होने की दृष्टि से सर्वमान्य रूप से प्रत्यक्षसिद्ध कुण्डलपुर जन्म तीर्थ (नालन्दा-निकटवर्ती) ही अद्यावधि प्रसिद्ध है। वैशाली की यत्किंचित् मान्यता श्वेताम्बरों में है तथा श्वेताम्बर एवं बौद्ध आदि जैनेतर ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है जो प्रमाणबाधित एवं दिगम्बर आमनाय के विरुद्ध है। दिगम्बर जैन शास्त्रों में भ. महावीर की जन्मभूमि के रूप में वैशाली का उल्लेख नहीं है, वह तो उनके नाना महाराजा चेटक की राजधानी थी। इस सम्बन्ध में अनेकों विद्वानों द्वारा स्पष्टीकरण हेतु साहित्य प्रकाशित हो चुका है जिससे समाज में फैलाये जा रहे भ्रम का निवारण हो रहा है।

यह भी ज्ञातव्य है कि मुजफ्फरपुर के सन्निकट जो वैशाली की कल्पना की गयी है, वह मात्र 60 वर्षों की देन है। कतिपय देशी-विदेशी शोधकर्ताओं ने दिगम्बर शास्त्रों को अनदेखा कर अन्य अपुष्ट, साधारण प्रमाणाभासों के द्वारा अनपेक्षित प्रभावना के चक्कर में इस आगम विरुद्ध मान्यता को स्वीकार कर नवीन विवाद को जन्म दे दिया है। इससे दिगम्बर जैन धर्म के शास्त्रों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगना संभव है, जिसके उत्तरदायी स्वयं दिगम्बर धर्मानुयायी ही हैं।

“प्राकृत विद्या” भी दिगम्बर जैन धर्म की मान्यताओं के विरुद्ध वैशाली को जन्मभूमि सिद्ध करने के प्रयास में संलग्न है। उसमें भरे विरोधाभासों से प्रकट है कि वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि सिद्ध नहीं किया जा सकता। निम्न बिन्दुओं द्वारा पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा, इससे वे स्वयं निर्णय कर सकेंगे।

(1) यद्यपि वैशाली के अन्तर्गत कुण्डग्राम या क्षत्रिय कुण्डग्राम का भी उल्लेख है तथापि उसमें पृष्ठ 6, 7, 8, 11, 14, 15, 16, 68, 69 तथा अन्यो पर बहुलता से जन्म स्थान के रूप में केवल वैशाली को लिखा गया है। इससे प्रकट होता है कि भविष्य में कुण्डपुर, कुण्डग्राम या कुण्डलपुर को भी हटाकर मात्र वैशाली को ही जन्म स्थान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। दिगम्बर जैन शास्त्रों में तो कहीं भी वैशाली का जन्म स्थान के रूप में

उल्लेख नहीं है, वह तो भगवान् महावीर के नाना चेटक की राजधानी थी। श्वेताम्बर अथवा जैनेतर साहित्य के द्वारा सिद्ध करना दिगम्बर जैन समाज के लिए घातक ही होगा।

(2) (अ) प्राकृत विद्या के प्रस्तुत विशेषांक के कवर पृष्ठ के पिछले भाग पर जो मानचित्र दिया है, वह उनके अनुसार **वज्जि-विदेह जनपद** का है, उसके साथ उसमें नालन्दा तो है किन्तु पुराकाल से महावीर जन्म कल्याणक रूप में हजारों वर्षों से जन-जन से वन्दनीय कुण्डलपुर को नहीं दर्शाया गया है। यह धर्म एवं समाज के प्रति छलावा ही है।

(ब) प्राकृत विद्या परिवार नालन्दा-कुण्डलपुर को विदेह जनपद के अन्तर्गत स्थित नहीं मानता, किन्तु वह जनपद की अपेक्षा पर्याप्त विशाल वृहद् विदेह राज्य के अवस्थान एवं उसके अन्तर्गत कुण्डलपुर की सिद्धि का बाधक प्रमाण प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ है। मानचित्र में से हटा देने से कुण्डलपुर की सिद्धि तो अबाधित ही है। जब वह वज्जि-विदेह को जनपद घोषित करता है तो विशाल विदेह का अस्तित्व तो स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। उसके अन्तर्गत नालन्दा-निकटस्थ कुण्डलपुर का अस्तित्व सिद्ध है। पुनश्च राज्यों के नाम व क्षेत्र बदलते रहते हैं। जैसे -झारखण्ड : बिहार।

(स) पूर्व में सन् 1975 में भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी (हीराबाग-बम्बई) से प्रकाशित “भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ” ग्रन्थ में अपेक्षित मानचित्र से स्पष्ट रूप से नालन्दा के पास कुण्डलपुर प्रदर्शित किया गया है, पाठक मानचित्रों का अवलोकन कर सकते हैं।

(द) जनता को भूगोल एवं इतिहास की जटिलताओं में डालकर कोई सिद्धि नहीं होगी, वह भ्रमित नहीं होगी। वह तो भगवान् महावीर का जन्म ठिकाना, परम्परा व दिगम्बर जैन आगम से मानकर अपने विश्वास को पूर्ववत् कायम रखेगी। उसे विदेहस्थ ही वह मानती है। सभी साधुगण तथा श्रावक उसी की वन्दना करके कृतार्थ होते हैं।

(3) पृ. 13-“प्राचीनकाल में वैशाली और कुण्डपुर दो भिन्न-भिन्न नहीं माने जाते थे।” प्राकृत विद्या का उल्लेख कितना भ्रान्तिकारक है। क्या भगवान् महावीर और उनके नाना महाराज चेटक का नगर एक हो यह संभव है? जब वैशाली और कुण्डपुर एक ही नगर थे तो दिगम्बर जैन शास्त्रों में कहीं भी वैशाली का उल्लेख जन्म स्थान के रूप में क्यों नहीं?

(4) प्राकृत विद्या के जन्मभूमि प्रकरण-परक समस्त आलेखों का आधार जैनेतर अथवा श्वेताम्बर ग्रन्थ हैं। यह दिगम्बरों

को मान्य कैसे हो सकता है? दिगम्बर जैनाचार्यों की उपेक्षा करना, उनको प्रामाणिक न मानना, क्या दिगम्बर जैनधर्म के लिए प्रभावनाकारक हो सकता है? दिगम्बर जैन आगम को अस्वीकार करने वालों का कथन दिगम्बरत्व के विरुद्ध है। क्या अनावश्यक बार-बार विश्वास को बदलना उचित है? क्या पूर्व से नालंदा-निकटवर्ती कुण्डलपुर विद्यमान नहीं है जिसे मानचित्र में से निकाला गया है।

जैनागम की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा गया है। क्या जैनागम को नष्ट कर परिवर्तनशील इतिहास-भूगोल को स्वीकार करना सम्यग्दर्शन है? क्या कुन्दकुन्द स्वामी की “आगम चक्खू साहू” उक्ति की साधुवर्ग या श्रावक वर्ग उपेक्षा कर सकता है? क्या इस वैशाली के बहाने श्वेताम्बरों की अन्य मान्यताओं, उदाहरणार्थ- भगवान् महावीर का गर्भान्तरण, विवाह, कवलाहार, त्रिशला को चेटक की बहन कहना आदि को भी स्वीकार करने तथा दिगम्बर जैन शास्त्रों को अप्रामाणिक ठहराने का छद्मवैशेष्य प्रयत्न दिगम्बर जैन समाज पर कुठाराघात नहीं होगा? विचारणीय है।

यहाँ “प्राकृत विद्या” के प्रस्तुत अंक के कुछ उदाहरण उद्धृत करना उपयोगी होगा, जिनसे इस पत्रिका के विरोधाभास का ज्ञान होगा। यह पूर्वापर विरोध ही स्वतः प्रमाणित करने में सक्षम है कि वैशाली या उसके अंतर्गत कुण्डग्राम भगवान् की जन्मभूमि नहीं है। इसके प्रस्तुत अंशों से ही इस मान्यता का खण्डन हो रहा है। द्रष्टव्य है :

पृ. 54- “कुण्डलपुर 20 मील की लम्बाई-चौड़ाई में बसा हुआ था।” (महानगर था) “महाराज सिद्धार्थ वैभव सम्पन्न प्रसिद्ध पुरुष थे।” (ले. नाथूलाल शास्त्री)

पृ. 33 - “इससे भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रिय कुण्डपुर जहाँ से एक साथ पाँच सौ राजकुमार निकले, कोई बड़ा नगर रहा होगा।”

पृ. 92- “क्षत्रिय कुण्डग्राम के भी दो विभाग थे। इसमें करीब पाँच सौ घर ज्ञाति नामक क्षत्रियों के थे, जो उत्तरी भाग में जाकर बसे हुए थे। उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। वे काश्यप गोत्रीय ज्ञाति क्षत्रिय थे तथा “राजा” की उपाधि से मण्डित थे। वैशाली के तत्कालीन राजा का नाम चेटक था जिनकी बहन त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। इन्हीं त्रिशला और सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान थे जिनका जन्म इसी ग्राम में हुआ था।”

पृ. 13 - “उस समय कुण्डग्राम वैशाली नगर में सम्मिलित था।”

पृ. 71 - “भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के कुण्डग्राम के शासक थे।”

पृ. 74 - “विशाल नगरी होने के कारण यह विशाला नाम से भी प्रसिद्ध हुई। बुद्धकाल में इसका विस्तार नौ मील तक

था।”

पाठक विचार करें कि 20 मील लम्बा-चौड़ा महानगर क्या गाँव था व 9 मील विस्तार वाली वैशाली के अन्तर्गत हो सकता है। “प्राकृत विद्या” को स्वयं ही निर्धारण नहीं है। यद्वा-तद्वा निरूपण करने से तो वह मिथ्या संभाषी ही कहे जावेंगे।

पृ. 53- “महावीर ने अपने आत्मबल से समस्त भूखण्ड को वैशाली के अधीन कर दिया।” इन्होंने श्री पार्श्वनाथ के मत को अपनाकर उसे परिष्कृत रूप दिया। तुम्हारे इस गाँव से सटा जो वासुकण्ड गाँव है, वही तब कुण्डग्राम कहलाता था और वहीं उनका जन्म हुआ।

पृ. 47 - “कई ग्रन्थों में तो वैशाली के साथ वैशाली के चेटक राजा एवं सामन्त का उल्लेख है।”

पृ. 57- भगवान् महावीर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में अनेक रचनाएँ पढ़ने पर यह समझ में आया कि उन्होंने वैशाली गणतन्त्र और वैशाली नगरी दोनों को एक मान लिया। इससे कुण्डलपुर को उसका उप नगर कुण्डग्राम लिख दिया। वर्तमान में भी कुण्डलपुर जन्म स्थान की भूमिका अतिक्रमण से संकुचित दिखती है। अतः वैशाली का प्रचार-प्रसार और प्रसिद्धि होने से उसके अन्तर्गत कुण्डलपुर या कुण्डग्राम की धारणा सर्वथा गलत है।

(पाठकगण स्वयं देखें कि प्राकृत विद्या के कर्णधार अपनी धारणा को स्वयं गलत कह रहे हैं। कहीं कुण्डलपुर को 20 मील लम्बा-चौड़ा तथा कहीं पाँच सौ घर मात्र क्षेत्रगत उल्लिखित कर रहे हैं। अपने पूर्व कथन को स्वयं ही खंडित कर रहे हैं। इनका वचन सत्य से परे है।)

पृ. - 96 “यद्यपि जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर श्रमण लिच्छिवि कुल में उत्पन्न हुए थे।”

पृ. - 73- “ज्ञातृकों से महावीर के पिता सिद्धार्थ का सम्बन्ध था।”

पृ.-72-“यह स्पष्ट है कि महावीर वैशाली के अध्यक्ष चेटक के दौहित्र थे।”

पृ. -92-“चेटक की बहन त्रिशला थी”, यह उल्लेख पहले किया ही है।

पृ. - 96- परन्तु जैन ग्रन्थों में लिच्छिवि न कहकर ज्ञातृ पुत्र, ज्ञातृ-क्षत्रिय आदि नामों से पुकारा जाता है।

द्रष्टव्य है कि किसी स्थल पर लिच्छिवि कुल बताते हैं कहीं लिच्छिवि होने का खंडन करते हैं।

प्रस्तुत विशोषांक में भगवान् महावीर को वैशालिक सम्बोधन कारण की विवेचना करते हुए लिखा है-

पृ. 46-विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव च।

विशालं वचनं यस्य तेन वैशालिको जिनः॥

अर्थात् जिनकी माता विशाला हैं, जिनका कुल विशाल है, जिनके वचन विशाल हैं इससे वैशालिक नामक जिन हुए।

इससे विरुद्ध उसका निम्न कथन द्रष्टव्य है,

पृ. 14- “कुण्डग्राम वैशाली का एक उपनगर था इसलिए उन्हें ‘वैशालिक’ कहा गया। निम्न अंश भी द्रष्टव्य है,”

पृ. 68- (जन्माभिषेक के प्रसंग में) “जय-जयकार के साथ शत-सहस्र इन्द्र माहेन्द्र तथा लौकान्तिक देव प्रभु का अभिषेक करते हैं।”

यह कथन आगम विरोधी है। लौकान्तिक देव केवल दीक्षा कल्याणक में ही भगवान् के वैराग्य की प्रशंसा करने आते हैं यह प्रसिद्ध विषय है। “प्राकृत विद्या” परिवार को आगम के अवर्णवाद का भय होना चाहिए।

प्रस्तुत विशेषांक में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसके कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत करना चाहूँगा।

पृ. 85- “परन्तु फिर भी वैशाली है, यह सिद्ध नहीं हो सका। यह केवल कल्पना की बात रही, अनुमान की बात रही।”

पृ. 89- “आपकी खुदाई में जो थोड़े से खिलौने मिले हैं, थोड़ी-सी मूर्तियाँ मिली हैं वह काफी नहीं है। किन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि ये जो भग्नावशेष हैं, वही वैशाली है।”

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि इनके द्वारा स्थापित वैशाली काल्पनिक है। ये स्वयं इतिहास-भूगोल की वास्तविकताओं से परिचित नहीं हैं। दूसरों से उधार लेकर कहीं तथ्य उजागर होते हैं? दिगम्बर जैन शास्त्रों को प्रमाण न मानकर अन्य प्रमाणों को आँख बंद कर स्वीकार कर लेने से क्या अस्तित्व को बचाये रखना सम्भव होगा?

निष्कर्ष यह है कि “प्राकृत विद्या” ने वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, वह उसके ही पूर्वापर विरोध, आगम विरोध तथा यद्वा-तद्वा निरूपण होने के कारण असत्य, अप्रामाणिक सिद्ध हो रहा है। न तो यह काल्पनिक वैशाली, वैशाली है न ही यहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। वैशाली को सिन्धु देश में ही खोजने की जरूरत है।

हमें दि. जैन शास्त्रों के अनुसार ही अपनी मान्यता बनानी चाहिए। कुण्डलपुर (नालन्दा के निकट) ही भगवान् महावीर की जन्मभूमि है। हजारों साल से जन समुदाय इस तीर्थ की वन्दना करता चला आ रहा है। उसे अनावश्यक इतिहास-भूगोल के पचड़ों में नहीं डालना चाहिए। पूर्व प्रकाशित “शोधादर्श” में प्रकाशित श्री अजित प्रसाद जैन, लखनऊ के आलेख के उद्धरण से “प्राकृत विद्या” यह स्वीकार करती है कि कम-से-कम नौ सौ वर्षों से तो कुण्डलपुर की वन्दना होती ही आ रही है। वहाँ मन्दिर अभी विद्यमान है। प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता है? जनता जनार्दन को अपना ठिकाना ज्ञात है, उसे यह अपेक्षा नहीं कि कोई उसे बताये। उसे यह मतलब नहीं है कि कब किस काल में से उसे विदेह या किस नाम के देश, राज्य में उल्लिखित

किया गया हो। यह श्रद्धा का विषय है। हमारे साधु व श्रावक पूर्वजों ने भी विमर्श करके निर्धारण किया था। उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं की स्वीकृति ही उचित है। स्थापित मान्यताओं को बदला नहीं जाता।

दिगम्बर जैन समाज के कतिपय लोग अपने देव-शास्त्र-गुरु की धर्मधुरी में से शास्त्र को अप्रामाणिक ठहराकर व अनदेखी कर धर्म को जगहँसाई का विषय बना रहे हैं। वैशाली के गाने को समाज कभी स्वीकार न करेगा। आस्थाओं पर कुठाराघात बहुत महँगा पड़ेगा। इस प्रकार की मान्यताएँ समाज के हाशिए पर ही आ जावेंगी। उन्हें वह कदापि स्वीकार न करेगा। “प्राकृत विद्या” के प्रस्तुत अंक में भूगोल के आधार पर गंगा के उत्तर में “विदेह” के अस्तित्व पर बड़ा बल दिया जा रहा है, परन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि विदेह के तीन रूप सम्भावित हैं- 1. विदेह जनपद, 2. विदेह राज्य, 3. महाविदेह। सभी की विदेह संज्ञा ही तो होगी।

प्राकृत विद्या ने स्वयं “वज्जि-विदेह” को नक्शे में जनपद ही लिखा है। उससे बृहद् विदेह राज्य व उससे भी विशाल महाविदेह (मगध को मिलाकर) का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है। अतः नालन्दा का निकटवर्ती कुण्डलपुर भी विदेह के अन्तर्गत ही तो होगा। इससे भी आगम की अनुकूलता होगी। किसी भी अन्य इतिहास-भूगोल आदि की मान्यताएँ, जो दिगम्बर जैन शास्त्रों के विपरीत हैं, कदापि स्वीकार नहीं की जा सकतीं। “आगम चक्खू साहू” का तात्पर्य यह है कि सभी को आगम से ही निर्णय करना चाहिए, चाहे वे साधु हों अथवा श्रावक। अनुदान के लोभ में संस्कृति एवं धर्म की हानि नहीं करना चाहिए। यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा। जब हम धार्मिक ही नहीं रहेंगे तो धर्म कैसे रहेगा।

धर्मो रक्षति रक्षितः।

न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

प्रस्तुत प्राकृत विद्या विशेषांक के पृष्ठ 58 पर पं. बलभद्र जैन का लेख वैशाली-कुण्डग्राम प्रकाशित है, जिसको पत्रिका परिवार ने वैशाली-कुण्डग्राम के जन्मभूमि समर्थक प्रमाण के रूप में ही छपा है। यह तो सम्पूर्णतया हास्यास्पद प्रयत्न ही ज्ञात होता है, क्योंकि बलभद्र जी ने ही “भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ” (बंगाल-बिहार-उड़ीसा के तीर्थ) नामक ग्रन्थ में (सन् 1975 में हीराबाग बम्बई से प्रकाशित) कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है-

“कुण्डलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट आफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान् महावीर के गर्भ, जन्म और तप कल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मन्दिर है, जिसमें भगवान् महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी 12 से

14 तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।”

यह स्पष्ट है कि बालभद्र जी का जो मत है वह उन्होंने वहाँ गवेषणा करके ही लिखा है अतः नालन्दा निकटवर्ती कुंडलपुर ही स्वीकार करने योग्य है।

वैशाली के समर्थक यह तर्क देते हैं कि 50 वर्ष पूर्व जब वैशाली को प्रकाश में लाया गया तब से समाज चुप क्यों रहा? इसका उत्तर यह है कि आप ही बतायें कि 900 वर्ष या उससे पूर्व से वह क्यों नालन्दा-कुण्डलपुर को स्वीकार करते रहे। इससे तो आपका पक्ष खंडित ही हो रहा है। 50 वर्षों से समाज में कतिपय विद्वानों ने स्वर मुखरित किया था। परंतु समाज अपने नेताओं पर विश्वास के कारण अथवा उद्देश्य की पूरी अभिज्ञता न होने के कारण अथवा प्रमाद के कारण मौन रहा। किंतु अब तो जाग्रत हो गया है, वह स्मारक अथवा ‘प्राकृत विद्यापीठ’ का विरोध नहीं करना चाहता। किंतु कुंडलपुर को मिटाने के प्रयास को अब कदापि स्वीकार नहीं किया जावेगा। हमने अपने आलेख भगवान् महावीर जन्मभूमि प्रकरण : मनीषियों की दृष्टि में प्रकाशित आलेख ‘भगवान् महावीर का जीवन और जन्मभूमि कुण्डलपुर’ में अनेकों शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं। अन्य भी अनेकों संतों ने व विद्वानों ने भी प्रस्तुत किये हैं व लेख भी लिखे हैं जिनसे भगवान् महावीर की जन्मभूमि के रूप में नालन्दा कुण्डलपुर ही मान्य है।

इस प्रकरण में भागलपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. श्यामाप्रसाद को उद्धृत करना उपयोगी होगा। द्रष्टव्य हैं उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ “महावीर का जन्म स्थान” के अंश,

पृ. 13 - “वैशाली से महावीर के संबंधों को नकारा नहीं जा सकता। यह सत्य है कि उनकी माता त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की बहिन थीं (दि. मत में पुत्री)। अतः वैशाली में उनका ननिहाल तथा मामाघर प्रमाणित है। किन्तु, वहीं उनका जन्मस्थान भी है-यह अस्वीकार्य ही नहीं, निर्मूल भी है।”

पृ. 55- (आगमोल्लिखित) इन विवरणों से विदेह क्षेत्र का अर्थ केवल वैशाली और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों से नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि यह वह विदेह है जहाँ तपश्चर्या के फलस्वरूप लोग देहातीत हो जाते हैं, तथा जो प्रदेश पर्वतों, वनों से घिरा हो और जहाँ कुंडपुर नामक महानगर (ग्राम या उपनगर नहीं) विराजमान हो।”

(ग्रन्थ प्रकाशित द्वितीय संस्करण 1997) प्रकाशक-

साहित्य संस्कृति अनुसंधान केन्द्र जमुई (बिहार)। इसी का पृष्ठ 13-“सभी विवादों को नजरअंदाज कर प्राचीन इतिहास के प्रणय पं. डॉ. योगेन्द्र मिश्र ने सन् 1948 में यह स्थापित कर दिया कि महावीर वैशाली में ही जन्मे थे।” डॉ. मिश्र जी के लिए यह नैतिक दायित्व था कि इन स्थानों तक आकर, इनके उन भौगोलिक परिवेश एवं अन्य आधारों की जाँच कर लेते।”

ज्ञातव्य है कि सर्वप्रथम जैकोबी, हार्नले और विसेंटस्मिथ पश्चिमी इतिहासविदों के मत को ही आधार बनाकर डॉ. योगेन्द्र मिश्र ने तथ्यों से आँख बन्द कर वैशाली को 1948 में मान्यता दी जिसे दि. जैन समाज के कतिपय प्रमुख नेताओं ने आँख बन्द कर माना। आम जनता उसे स्वीकार नहीं करती।

श्री माणिकचन्द्र जैन बी.ए. ने अंग्रेजी में एक पुस्तक ‘Life of Mahavir’ लिखी थी यह 1908 में इंडियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी जिसका Preface एम.सी. जैनी ने तथा Introduction लंदन से जे.एल. जैनी ने लिखा था। प्रासंगिक जानकर उसके निम्न अंश उद्धृत करता हूँ।

Page-15-“make us believe that Siddhartha was a powerful monarch of his metropolis, Kundalpur, a big popular city.

इससे हमें विश्वास होता है कि सिद्धार्थ अपने समय के एक शक्तिशाली सम्राट (चेटक से कम नहीं) थे और उनकी राजधानी कुंडलपुर एक बड़ा प्रसिद्ध नगर था (गाँव नहीं)।

Page-17-“Both the Digambers and shvetambers assert that Kundalpur was the place where he was born.

अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानते हैं कि कुण्डलपुर वह स्थान है जहाँ महावीर भगवान् का जन्म हुआ था।

Page-14-(Chapter III)-“Siddhartha the father of Mahavir... was a Kshatriya ruler of a place called Kundalpur situated in that part of Northern India which was called Pavan in very ancient times and Videha or Magadha in later times.”

यहाँ लेखक स्पष्ट करते हैं कि कुंडलपुर उत्तरी भातर के उस भाग में स्थित था जिसे पावन (पवन्) कहते थे बाद में जिसे विदेह या मगध कहा गया। अतः ‘विदेहः-कुंडपरे’ शास्त्र वाक्य से नालन्दा निकटवर्ती कुण्डलपुर की स्थिति में विरोध नहीं है। जन्म भूमि के रूप में वही मान्य है। इत्यलम्!

विचारणीय

जो भाई-बहन वर्तमान में मुनि-आर्थिका बनने में असमर्थ हैं, जिनकी पारिवारिक जिम्मेदारी पूर्ण हो चुकी है तथा जिन्हें बहुमूल्य पर्याय का अवशिष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए अर्थ पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है-

उनके लिए धर्म-ध्यान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए सिद्धक्षेत्र सम्मोदशिखर जी के पाद मूल में अवस्थित उदासीन

आश्रम, इसरी बाजार पूर्वी भारत में गौरवपूर्ण अद्भुत स्थान है। घर-परिवार में रहते हुए परिणामों का निर्मल रहना दुष्कर है।

अतः आश्रम में आजीवन रहने के उद्देश्य से आगामी 1-12-2002 से 8-12-2002 तक “चतुर्थ आत्म-साधना शिक्षण शिविर” का आयोजन किया गया है।

जैसा करोगे वैसा भरोगे

प्रस्तुति-सुशीला पाटनी

प्रवृत्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। शुभ प्रवृत्ति हमारे जीवन के शुभ का कारण बनती है, अशुभ प्रवृत्ति से जीवन का पतन होता है। शुभ प्रवृत्ति पुण्य का सेतु है, अशुभ प्रवृत्ति से पाप बँधता है। यह क्रम चौबीस घंटे चलता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं है जिसमें कर्म या बन्ध नहीं होता है। प्रवृत्ति के अनुरूप कर्म बँधते हैं और बंधन के अनुरूप उनका फल मिलता है।

किसी व्यक्ति के पास सब कुछ है अच्छा शरीर, रूप, संपन्नता, बुद्धि और अच्छे संस्कार हैं, किसी के पास कुछ भी नहीं है। कुछ मनुष्य आप लोगों को ऐसे भी देखने को मिलेंगे जिनके पैदा होते ही माँ-बाप का साया उठ गया और जिनके हाथ-पैर काट दिये गये और रोज सड़कों पर भीख माँगने के लिए मजबूर किया जा रहा है। वे भी मनुष्य हैं, आप भी मनुष्य हैं। हम सब मनुष्य हैं जो अपना काम कर रहे हैं। ऐसे भी मनुष्य देखने को मिलेंगे कि आदमी होकर भी पशुओं का काम कर रहे हैं।

संसार में जितने भी व्यक्ति हैं, कोई भी पाप का फल नहीं चाहता। हर व्यक्ति यह जानता है कि पाप का फल नरक है। नरक जाना कोई भी पसंद नहीं करता। नरक की बात स्वप्न में भी नहीं सोचता। शायद इसलिए मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति के नाम के आगे स्वर्गीय जोड़ा जाता है।

पुण्यस्य फल मिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।

फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

मनुष्य पुण्य का फल तो चाहता है, पर पुण्य करना नहीं चाहता। पाप का फल नहीं चाहता लेकिन दिन-रात पाप में लगा रहता है। यह कैसी बिडम्बना है। यह तो “**पुण्य की चाह और पाप की राह**” वाली बात है। पाप के बीज बोकर कोई भी पुण्य की फसल नहीं काट सकता। व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जानता है, पर मानता नहीं है। वह हमेशा पाप का काम करता है और पुण्य के गीत गाता है। पाप का काम और पुण्य का नाम कभी भी हमारे जीवन का उद्धार नहीं कर सकता।

आचार्यों ने कहा है “**नाभुक्तंक्षीयते कर्म**” तुमने अगर कोई पाप किया है तो बिना भोगे वह नष्ट नहीं होता। कहावत है - “**पाप और पारा कभी पचता नहीं।**” आदमी पाप करके दुनिया की आँखों में धूल झोंक सकता है, पर कर्म की आँख में कभी धूल नहीं झोंक सकता। हो सकता है दुनिया के कानून में कोई अपराधी सजा से बच जाये और निरपराध फँस जाय, क्योंकि आज का कानून अंधा कानून है। दुनिया के अंधे कानून में पाप करके आदमी बच सकता है पर कुदरत के कानून में कोई बच नहीं सकता। कुदरत का कानून अंधा नहीं है। वहाँ तो मनुष्य जैसा करता है उसे वैसा फल मिलता है।

आचार्य कहते हैं कि भय खाने की कोशिश करो। जब तुम भय खाओगे तभी पाप से बच सकोगे। दो तरह के लोग होते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो पाप करके भयभीत होते हैं, कुछ पाप से भयभीत होते हैं। आजकल पाप करके भय खाने वाले

लोगों की संख्या ज्यादा है, पाप से भय खाने वालों की अपेक्षा। आचार्य कहते हैं पाप से भय खाओगे तो तुम्हारे अंदर दया और करुणा उत्पन्न होगी। पाप करके भय खाना तो कायरता है, पाप से भय खाओ तुम्हारा जीवन सुधरेगा, तुम्हारी आत्मा का उद्धार होगा। एक आचार्य ने तीन प्रकार की वृत्ति बताई, अलग-अलग वृत्ति के लोग होते हैं, लिखा है :

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः

प्राप्यापदं सघृण एव हि मन्दबुद्धिः।

प्राणात्ययेपि न हि साधुजनः स्ववृत्तं

बेलां समुद्रं इन लंघयितुं समर्थः॥

पाप करने के बाद भी जिन के मन में पाप के प्रति किसी प्रकार की घृणा या संकोच नहीं होता, वे लोग जघन्य हैं। ऐसे लोग बेधड़क पाप करते रहते हैं, इनके जीवन से पाप छूट नहीं सकता। जो पाप को पाप मानने को तैयार नहीं उनके जीवन से पाप छूट कैसे सकता है? जैसे कसाईखानों में जो पशुओं को काटते हैं उनको ज्यादा पैसे नहीं मिलते, मात्र 15-20 रुपये में एक-एक पशु को हलाल किया जाता है। पर वह उन्हें ऐसे काटते हैं जैसे गाजर-मूली छील रहे हों।

दूसरी प्रकृति के वे लोग होते हैं जो पाप करते नहीं है पाप करना पड़ता है, विवश होकर पाप करते हैं। जैसे किसी गृहस्थ को गृहस्थी में पाप करना पड़ता है। पाप उसकी विवशता है। ऐसे लोग पाप करने के बाद सदा अपराध के बोध से भरे रहते हैं। ऐसे लोग पाप से बहुत जल्दी ही मुक्त हो सकते हैं।

उत्तम पुरुष तो साधुजन की तरह होते हैं कि “**प्राण जाए पर प्रण न जाए**” अपने चरित्र से स्वखलित नहीं होते। जैसे समुद्र के अंदर उताल तरंगें उठती रहती हैं फिर भी समुद्र अपने तट की सीमाओं को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार जो उत्तम पुरुष होते हैं, उनके अंदर आवेग संवेग की कितनी लहरें क्यों न उत्पन्न हो जाएँ वे अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं होने देते। ऐसे पुरुष अपने जीवन का विकास करते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में कभी पाप विकसित नहीं हो पाता, हम कम-से-कम पाप से घृणा करने की कोशिश करें, जब तक पाप से घृणा नहीं होती, जब तक पाप से भय नहीं होता, तब तक वह छूटता नहीं है।

बड़ी गहरी भावनाएँ छुपी हुई हैं इसमें। अगर आदमी इन तीना बातों का हमेशा ध्यान रखे, तो अनर्थ से बच सकता है। कभी भी हमारी मृत्यु हो सकती है। एक-एक कदम पर हमसे पाप होता है, प्रत्येक कदम गर्त में ले जाने वाला है। और विषयों की तरफ तुमने देखा कि उनका विष व्याप्त हो गया। विषयों की आसक्ति से बचना चाहते हो तो यह समझो कि उनमें जहर है, भले ही जहर मीठा हो पर जहर तो जहर ही होता है। ऐसा भय जागृत हो जाए तो आसक्ति नहीं होती, आसक्ति से बचने के लिए भी भय चाहिए, तभी पाप की परिणति छूटेगी।

आर.के.मार्बलस लि.,

मदनगंज-किशनगढ़

जिज्ञासा-समाधान

पं. रतनलाल बैनाड़ा

प्रश्नकर्ता - श्री देवेन्द्र कुमार जैन, झाँसी

जिज्ञासा- क्या तीर्थंकर एवं अन्य सभी मुनि पिच्छी व कमण्डलु दोनों रखते हैं या नहीं?

समाधान - तीर्थंकर मुनि बनने के उपरांत पिच्छी-कमण्डलु नहीं रखते। अन्य मुनियों में भी जिनके, शलाका पुरुष होने के कारण अथवा नीहार रहित होने के कारण, कमण्डलु की आवश्यकता नहीं होती है वे सिर्फ पिच्छी रखते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र के धारी मुनिराज उनके द्वारा जीव हिंसा न होने के कारण, पिच्छी नहीं रखते हैं। जिनके प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. महापुराण सर्ग 17-18 में भगवान आदिनाथ की दीक्षा का सम्पूर्ण वर्णन है परन्तु पिच्छी-कमण्डलु का वर्णन नहीं पाया जाता। इसी तरह उत्तरपुराण में समस्त तीर्थंकरों के चारित्र का वर्णन है परन्तु दीक्षा कल्याणक के अवसर पर पिच्छी-कमण्डलु देने का कोई प्रकरण कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता।

2. भावापहुड गाथा- 79 की श्रुतसागरीटीका में इस प्रकार लिखा है- “पिच्छी कमण्डलुरहितं लिङ्गं कश्मलमित्युच्यते तीर्थंकर परमदेवात्तद्देवि अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।

अर्थ- पिच्छी-कमण्डलु रहित साधुवेश ठीक नहीं, किन्तु तीर्थंकर परमदेव, तप्तऋद्धि के धारक मुनिराज और अवधिज्ञान से युक्त मुनियों को इनकी आवश्यकता नहीं रहती।

3. भाव संग्रह (वामदेवकृत) में इस प्रकार कहा है- “अवधेः प्राक् प्रगृहन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ॥276 ॥

अर्थ- अवधिज्ञान के बाद पिच्छिका आवश्यक नहीं।

4. नियमसार गाथा 64 की टीका में इस प्रकार लिखा है- “उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निष्पृहः, अतएव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः” अर्थ- उपेक्षासंयमियों के पुस्तक, उपकरण आदि बाह्य उपकरण नहीं होते।

5. महावीरचरित्र सर्ग- 17, श्लोक- 127 में लिखा है- तीर्थंकरों के परिहार विशुद्धि संयम होता है। (अतः उनके पिच्छी-कमण्डलु नहीं होते) ”

6. तत्त्वार्थसूत्र (टीका-पं. फूलचंद जी सिद्धांताचार्य) अध्याय- 9, सूत्र- 47 में लिखा है- निर्ग्रन्थों का द्रव्य लिंग एक सा नहीं होता। किसी के पिच्छी-कमण्डलु होते हैं, किसी के नहीं होते।

7. जैन साहित्य और इतिहास (पं. नाथूराम जी प्रेमीकृत) द्वितीय संस्करण पृष्ठ- 494 पर लिखा है- “तीर्थंकरानुकारमिच्छतां मठे निवसनं पिच्छीकमण्डलु धारणं..... सर्वमविधेयं स्यादिति। अर्थात् तीर्थंकर रूप के अभिलाषियों का मठ में रहना, पिच्छी-

कमण्डलु धारणा उचित नहीं है।”

8. जयसेन प्रतिष्ठापाठ पृष्ठ 271 पर इस प्रकार लिखा है- “अत्र कमण्डलुपिच्छिकादानं तीर्थंकरस्य शौचक्रियाजीव धाताभावाच्च न कर्तुम् प्रभवति।” अर्थ- शौचक्रिया और जीवहिंसा के अभाव के कारण तीर्थंकरों के कमण्डलु-पिच्छी नहीं होते।

9. समयप्रवाह (प्रतिष्ठाचार्य दुर्गाप्रसाद जी) I, पृष्ठ 16 में लिखा है- “भगवान की दीक्षा के समय पिच्छी-कमण्डलु नहीं होते।

10. विचार सार प्रकरण पृष्ठ 47 पर लिखा है- “न वि लेइ जिणा पिच्छी, न वि कुंडी वक्कलं च कडमारं।” तीर्थंकर पिच्छी, कमण्डलु, चटाई आदि नहीं रखते।

(उपर्युक्त सभी प्रमाण पं. रतनलाल जी कटारिया, केकड़ी के संदर्भ से लिये गए हैं)।

जिज्ञासा- पुण्य कर्मों का बंध किस गुणस्थान तक होता है और पुण्य कर्म का उदय किस गुणस्थान तक रहता है?

समाधान- कर्म बंध प्रक्रिया के अनुसार 10 वें गुणस्थान तक छह कर्मों का बंध होता है और तदुपरांत 11-12-13 वें गुणस्थान में केवल साता वेदनीय या ईर्यापथ आस्रव होता है। इस आस्रव का बंध भी एक स्थिति वाला होता है, अतः यह स्पष्ट है कि साता वेदनीय का बंध 13 वें गुणस्थान तक माना गया है। तदनुसार पुण्य कर्मों का बंध प्रथम गुणस्थान से 13वें गुणस्थान तक मानना चाहिए।

उदय के संबंध में, 14वें गुणस्थान के उपान्त समय में मनुष्य आयु आदि 12/13 प्रकृतियों का उदय पाया जाता है जिनका विच्छेद अयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। इससे ज्ञात होता है कि पुण्य कर्म की प्रकृतियों का उदय प्रथम गुणस्थान से 14 वें गुणस्थान के उपान्त समय तक पाया जाता है।

जिज्ञासा- गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी कहाँ से मोक्ष गये?

समाधान- (अ) भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतमस्वामी के निर्वाण स्थान के बारे में दो मत प्रचलित हैं। उत्तरपुराण पृष्ठ 563 के अनुसार गौतमस्वामी को विपुलाचल (राजगिरी) से मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है, जबकि वर्तमान प्रचलन के अनुसार बिहार में गुणावा नामक स्थान को इनका मोक्ष स्थान माना जाता है।

(आ) श्री सुधर्माचार्य का निर्वाण भी विपुलाचल पर्वत से हुआ था।

(इ) अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के बारे में भी दो मत हैं। किन्हीं शास्त्रों के अनुसार तो इनका निर्वाण विपुलाचल

पर्वत से ही हुआ है। जबकि वर्तमान में चौरासी (मथुरा) को इनका निर्वाण स्थान माना जाता है। ऐसा भी कुछ शास्त्रकारों ने वर्णन किया है।

जिज्ञासा- क्या तीर्थकर दीक्षा लेने के बाद केवल एक बार ही आहार लेते हैं या अधिक बार ?

समाधान- भट्टारक सकलकीर्ति विरचित वीर वर्धमान चरित्र अधिकार-13, श्लोक नं. 7-8 के अनुसार- “कुल नामक धर्मबुद्धि राजा ने भगवान वर्धमान का विधिवत नवधाभक्तिपूर्वक पड़गाहन करके आहार दिया था।” ऐसा ही प्रकरण अर्थात् भगवान वर्धमान को कूल राजा ने प्रथम आहार दिया था, उत्तरपुराण पृष्ठ 464 पर श्लोक नं. 318 और 319 से स्पष्ट है। भगवान वर्धमान को सती चन्दना द्वारा दिए गए आहार के बारे में किन्हीं विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि यह प्रकरण दिगम्बर आम्नाय का नहीं है। जबकि दिगम्बर आम्नाय के शास्त्रों में सती चन्दना द्वारा आहार दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उत्तरपुराण पृष्ठ 466 पर लिखा है “उस बुद्धिमती चन्दना ने विधिपूर्वक पड़गाहकर भगवान को आहार दिया, इसलिये उसके यहाँ पंचाशचर्यों की वर्षा हुई।” वीर वर्धमान चरित्र में भी पृष्ठ 130 पर अधिकार 13 श्लोक 96 में इस प्रकार कहा है “तब उस सती चन्दना ने परम भक्ति के साथ नव प्रकार के पुण्यों से युक्त होकर अर्थात् नवधाभक्ति पूर्वक विधि से हर्षित होते हुए श्री महावीर प्रभु को वह उत्तम अन्न दान दिया।”

वीरवर्धमानचरित्र पृष्ठ-136 पर इस प्रकार और भी लिखा है- “वे जिनदेव बेला-तेला को आदि लेकर 6 माह तक के उपवासों को करने लगे। कभी पारणा के दिन अवमौदर्य तप करते, कभी अलाभ परिषह को जीतने के लिए चतुष्पद आदि की प्रतिज्ञा करने के लिए अद्भुत वृत्तिपरिसंख्यान तप को करते, कभी निर्विकृति आदि की प्रतिज्ञा करके रस परित्याग तप को करते।”

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वर्धमान कभी दो दिन बाद, कभी 3 दिन बाद और कभी 6 माह बाद छद्मस्थ काल में आहार के लिए उठते थे और उनके 12 वर्ष के छद्मस्थ काल में कई आहार हुए।

भगवान आदिनाथ के संबंध में-आदिपुराण पर्व 20, श्लोक नं. 175 में इस प्रकार कहा है- “अतिशय उग्र तपश्चरण को धारण करने वाले वे वृषभदेव मुनिराज अनशन नाम का अत्यंत कठिन तप करते थे और एक कण आदि का नियम लेकर अवमौदर्य नामक तपश्चरण करते थे ॥175 ॥ वे भगवान कभी अत्यंत कठिन वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तप तपते थे, जिसके कि बीथी चर्या आदि अनेक भेद हैं ॥176 ॥ इसके सिवाय वे आदिपुरुष आलस्य रहित हो दूध, घी आदि रसों का परित्याग का नित्य ही (सदा) रसपरित्याग नाम का घोर तपश्चरण करते थे।” इस संदर्भ में भी यही स्पष्ट होता है कि भगवान आदिनाथ ने प्रथम आहार तो राजा श्रेयांस के यहाँ लिया ही था, उसके बाद भी वे निरंतर उपर्युक्त

विधि से आहार लेने उठते थे। इतना ज्ञातव्य है कि तीर्थकर प्रभु वर्धमान चारित्री होते हैं। जो तीर्थकर प्रथम बार छह माह का उपवास करके चर्या को निकले हों, वे आगे भी छह माह से पूर्व कभी चर्या को नहीं निकलते। इसी आधार से पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने एक बार अपने प्रवचन में कहा था कि भगवान आदिनाथ के लगभग 1998 आहार, छद्मस्थ काल के पूरे 1000 वर्ष में हुए होंगे। उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि तीर्थकर भगवान एक से अधिक बार आहार के लिए चर्या करते हैं।

जिज्ञासा- अशुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

समाधान- प्रवचनसार गाथा 155 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने ऐसा कहा है- “स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य, अथायमुपयोगो द्वेषा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥155 ॥

अर्थ- वह (उपयोग) ज्ञान तथा दर्शन है। क्योंकि चैतन्य के साकार (विशेष) और निराकार (सामान्य) उभयरूपपना है। अब यह उपयोग शुद्ध अशुद्धपने से दो प्रकार का विशेष है। उसमें से शुद्ध निरुपराग (निर्विकार) है और अशुद्ध सोपराग (सविकार) है। वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ-दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्ध और संक्लेश रूप से दो प्रकार का है। अर्थात् विकार, मन्द कषाय रूप और तीव्र कषाय रूप से दो प्रकार का है ॥55 ॥ भावार्थ- राग-द्वेष रहित निर्विकार उपयोग शुद्धोपयोग है, जो सप्तम गुणस्थान से 12वें गुणस्थान तक होता है। अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है- 1. शुभोपयोग, 2. अशुभोपयोग। धर्मानुराग रूप उपयोग को शुभोपयोग कहा गया है जो 4-5-6वें गुणस्थान में होता है और विषयानुरागरूप और द्वेषमोहरूप उपयोग को अशुभोपयोग कहते हैं, जो प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक होता है, द्रव्य संग्रह गाथा 34 की टीका देखें।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग का स्वरूप आगम में इस प्रकार कहा है- प्रवचनसार गाथा 69

देवदज्जिदगुरुपूजासु चैव दाणम्मि वा सुसीलेसु।

उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्यणो अप्पा ॥69 ॥

अर्थ- देव, यति और गुरु की पूजा में तथा दान में तथा सुशीलों में उपवासादिकों में लीन आत्मा शुभोपयोगमयी है।

प्रवचनसार गाथा 158 में-

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुडुगोड्डिजुदो।

उगो उम्मगपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥158 ॥

अर्थ- जिसका उपयोग विषय कषाय में मग्न है, कुश्रुति, कुचिचार और कुसंगति में लगा हुआ है, कषायों की तीव्रता में अथवा पापों में उद्यत है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है वह अशुभोपयोग है।

श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल, एलोरा

गुलाबचन्द्र हिरामण बोरालकर

समय की आवश्यकता समझकर प.पू. समंतभद्र महाराजश्री ने सन् 1918 में महाराष्ट्र स्थित कारंजा में (जो महाराष्ट्र में जैनों की काशी कहलाती है) श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल की स्थापना की। बड़े बुजुर्गों को संस्कारित करने की बजाय छोटे-छोटे बालकों पर बाल्यावस्था में डाले गये संस्कार चिरकाल तक टिकते हैं—इस दूरदृष्टिकोण को ध्यान में रखकर प.पू. महाराजश्री के विचारों में गुरुकुल प्रणाली का जन्म हुआ। उसी अवसर पर उनके विचारों को तत्कालीन विद्वद्गर्ग एवं श्रेष्ठीवर्ग के सहकार्य से मूर्तरूप प्राप्त हुआ। लौकिक एवं अलौकिक (धार्मिक) पढ़ाई की पूरी व्यवस्था की गयी। स्वयमेव प.पू. महाराजश्री ने धर्म की धुरा को सँभाला।

पुष्प को अपनी सुगंध बताने के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। उसकी महक पाकर रसिक स्वयं खिंचा आता है। उसी प्रकार कारंजा गुरुकुल अपनी अनोखी कार्य प्रणाली से शीघ्र ही प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया एवं पूरे महाराष्ट्र प्रांत के छात्रों का आना प्रारंभ हुआ। ट्रस्ट मंडल की सेवाभावी वृत्ति से एवं महाराजश्री के मंगल आशीष से संस्था प्रगति पथ पर थी, किंतु यह स्थान मराठवाडा प्रांत से काफी दूर होने से इच्छा होनेपर भी अनेक छात्र आर्थिक स्थिति के कारण गुरुकुलीय अध्ययन से वंचित रहते थे। समाज की इसी आवश्यकता को समझकर मराठवाडा प्रांत में गुरुकुल स्थापना का विचार हुआ।

एलोरा औरंगाबाद-कचनेर-पैठण इत्यादि स्थानों के बारे में विचार विमर्श हुआ, स्थानावलोकन हुआ, किन्तु अपनी ऐतीहासिकता से पूरे विश्व में प्राचीन गुफाओं के कारण प्रसिद्ध एलोरा को सर्वदृष्टि से सुयोग्य समझा गया। यहाँ पर जैन, हिन्दू एवं बौद्धों की कुल 34 प्राचीन गुफाएँ हैं साथ ही पहाड पर स्थित 16 फीट की भगवान पार्श्वनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा का अकर्षण यहाँ पर है।

जैन धरोहर रूपी गुफाओं का संरक्षण, पहाड़ मंदिर की व्यवस्था, तथा यहाँ पर आने वाले दर्शनार्थी, तीर्थयात्रियों की व्यवस्था की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अंत में यह निर्णय लिया गया कि गुरुकुल की स्थापना एलोरा में ही होनी चाहिए।

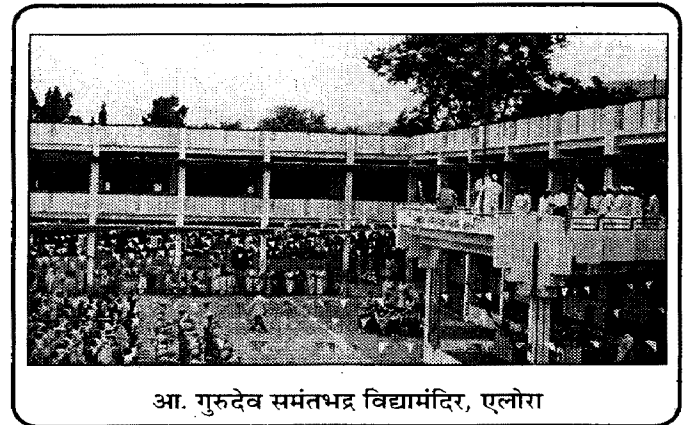
प.पू. समंतभद्र आचार्यश्री का दूरदृष्टिकोण

प.पू. समंतभद्र आचार्यश्री की हमेशा सोच रही कि केवल भवन खड़े करने से संस्था नहीं चलती, बल्कि तन, मन, धन के समर्पण भाव से ही संस्था चलती है। इस भावना से महाराजश्री की पारखी नजर ने मराठवाडा में सक्रिय रूप से निष्कपट और निःस्वार्थ भावना से कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं की खोजबीन की जिसमें मुख्यता से श्री तनसुखलालजी ठोले, श्री पन्नालालजी गंगवाल, श्री हुकुमचंद जी ठोले इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। कारंजा स्थित महावीर ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल की शाखा के रूप में

प.पू. समंतभद्र महाराजश्री ने एलोरा गुरुकुल की स्थापना की पूरी जिम्मेदारी प.पू. आर्यनंदीजी महाराज को सौंपी। कहते हैं सिंह का शावक भी पराक्रमी होता है। इसी तरह प.पू. आर्यनंदी महाराज ने अपने गुरु समंतभद्र महाराज के आदेश का अक्षरशः पालन किया। कार्यकर्ताओं ने तत्काल ग्यारह ग्यारह हजार रु. देकर फंड की शुरुआत की।

स्थापना

एलोरा में किस जगह गुरुकुल का भवन खड़ा हो इसका निर्णय हुआ। कार्यकर्ताओं एवं ग्रामस्थों के सहकार्य से जगह ली गयी एवं 7 जून 1962 को श्रुत पंचमी के शुभावसर पर प.पू. आर्यनंदीजी महाराज की मंगल उपस्थिति तथा पं. जगन-मोहनलालजी शास्त्री कटनी वालों के शुभहस्ते मध्याह्न की मांगलिक बेला में णमोकार मंत्र की ध्वनि के साथ श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल, एलोरा की स्थापना हुई। ज्ञानरूपी वृक्ष की कणिका एलोरा धरती में बोई गयी जिसे गुरुकुल के अधिष्ठाता बा.ब्र. श्रद्धेय माणिकचंदजी चवरे (तात्याजी) की उपस्थिति प्राप्त हुई। मराठवाडा प्रांत के जैनों की आशाएँ पल्लवित हो गईं। लौकिक पढ़ाई के साथ ही धार्मिक संस्कारों के आरोपण का सुयोग्य स्थान प्राप्त हो गया।



आ. गुरुदेव समंतभद्र विद्यामंदिर, एलोरा

स्थापना का उद्देश्य

भौतिक युग की चकाचौंध में होनेवाले धार्मिक पतन एवं बिगड़ती सामाजिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर महाराजश्री ने समाज के बच्चों के लिए लौकिक अध्ययन के साथ-साथ धार्मिक अध्ययन को गुरुकुल की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य बनाया। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करनेवाला छात्र विश्व के किसी भी क्षेत्र में पीछे न रहे अतः प्रेम, ज्ञान, व्यवस्था, शील एवं सेवा इस पंच सूत्र का निरतिचारपालन आज भी बच्चों एवं कार्यकर्ताओं के द्वारा किया जाता है। स्वयं का कार्य स्वयं करने का शिक्षा मिलती है। यहाँ के

छात्र कपड़े एवं भोजन की थाली, ग्लास इत्यादि स्वयं ही स्वच्छ करते हैं। अपने स्थान की स्वच्छता का ध्यान छात्र स्वयं रखते हैं। कुल मिलाकर बच्चों के सर्वांगीण विकास को ही संस्था का प्रमुख उद्देश्य बनाया गया।

संस्था की प्रगति में प.पू. आर्यनंदीजी महाराज एवं ट्रस्ट का योगदान

स्थापना के बाद स्वयं प.पू. आर्यनंदीजी महाराज ने छात्रों की धार्मिक पढ़ाई को प्रमुखता दी। बच्चों की सुबह से शाम तक की पूरी व्यवस्था में कार्यकर्ताओं को नियोजन के साथ जोड़ा। निरपेक्ष रहकर भी महाराजश्री गुरुकुल के लिए सबकुछ बन गये। संस्था के वर्तमान अध्यक्ष श्री तनसुखलालजी ठोलिया, कोषाध्यक्ष श्री हुकुमचंदजी ठोलिया के वात्सल्य पूर्ण व्यवहार ने यहाँ के शिक्षक वर्ग के कार्य को स्फूर्ति प्रदान की। शिक्षकों में भी कार्यरुचि बढ़ती गयी। संस्था स्थापना के समय संस्था सचिव के रूप में आर्यनंदीजी महाराजश्री ने श्री पन्नालालजी गंगवाल का नाम सुझाया, जिन्होंने 1962 से आज तक इस सचिवपद को निष्कलंकित रखा। श्री पन्नालालजी गंगवाल साहब औरंगाबाद को पूरा गुरुकुल परिवार काकाजी के नाम से जानता है। काकाजी ने अपनी युवावस्था से ही अधिक से अधिक गुरुकुल में रहकर यहाँ की व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया। सन् 1962 में इस गुरुकुल की शुरुआत टिन के कमरों में हुई थी और आज इसका जो विशाल रूप बना इसमें श्री पन्नालालजी गंगवाल का बहुत बड़ा योगदान है। इन्होंने स्वयं 7,50,000 रु. की दान राशि आज तक इस संस्था को दी है। इससे भी अधिक मूल्यवान उनकी उपस्थिति एवं दिया हुआ समय है।

7 जून 1962 श्रुत पंचमी के दिन जो वट कणिका बोई गयी काकाजी ने उसे सींच-सींच कर आज विशाल वटवृक्ष बनाया है। वह अपने पैरों पर स्थिर हो चुका है। आज इस संस्था को न केवल महाराष्ट्र में, अपितु पूरे भारत वर्ष में विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

धार्मिक एवं लौकिक पढ़ाई

संस्था स्थापना के प्रमुख उद्देश्यों में प्रथम धार्मिक संस्कार देना है। इसके अंतर्गत यहाँ कक्षा 5 से 10 तक 'भारती तत्त्वमाला' (कारंजा से प्रकाशित जैनदर्शन का सामान्य परिचय) छहढाला, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि ग्रंथों की पढ़ाई कराई जाती है। इसके लिए विद्यालय के अध्यापक स्वयं अवैतनिकरूप में अतिरिक्त समय देते हैं। इन विषयों के अलावा अभिषेक, दर्शनपाठ, सामायिक पाठ, स्तुतियाँ, पूजा, आरती इत्यादि का प्रशिक्षण दिया जाता है। दसलक्षण पर्व, महावीर जयंती, अक्षय तृतीया, श्रुतपंचमी आदि अवसरों पर भाषण स्पर्धा, तत्त्वचर्चा, संगोष्ठी, प्रवचन, आदि आयोजित किये जाते हैं। आनेवाले त्यागी-व्रतियों की पूरी व्यवस्था का ध्यान भी रखा जाता है। इस प्रकार धर्म के सभी क्षेत्रों को स्पर्श करने का प्रयास रहता है। इनमें सहभागी एवं विशेष छात्रों को पुरस्कृत किया जाता है।

30 अक्टूबर-नवम्बर 2002 जिनभाषित



गुरुदेव समंतभद्र विद्या मंदिर

संस्था के अंतर्गत चलने वाले गुरुदेव समंतभद्र विद्या मंदिर में भी सभी प्रकार की गतिविधियों को सम्पन्न किया जाता है। यहाँ पर कक्षा 5 से 10 तक की पढ़ाई करायी जाती है। प्रधानाध्यापक श्री देवकुमारजी कान्हेड ने विद्यालय एवं संस्था के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। प्रधानाध्यापक श्री निर्मलकुमार जी ठोलिया के नेतृत्व में पूरा स्टाफ योगदान देता है।

गुणवंत विद्यार्थी सत्कार समारोह

प.पू. समंतभद्र महाराजश्री को छात्रों से विशेष लगाव था। छात्रों को वे भविष्य में जैनधर्म का कर्णधार समझते थे। अतः पुण्यस्मरण के अवसर पर प्रतिवर्ष विद्यालय में दि. 18 अगस्त को गुणवंत विद्यार्थी सत्कार समारोह मनाया जाता है। जिसमें विशेष प्रावीण्य प्राप्त छात्रों को पुरस्कृत किया जाता है। इन पुरस्कारों में विद्यालय का पूरा स्टाफ एवं ट्रस्ट मंडल का बड़ा योगदान है। इन धार्मिक, शैक्षणिक, बोर्डपरीक्षा, क्रीड़ा, वक्तृत्व इत्यादि विषयों के लिए पुरस्कार बाँटे जाते हैं यहाँ का छात्र क्रीड़ा एवं वक्तृत्व में राज्य स्तर तक और उसके आगे तक पहुँचा है।

इसी समारोह में किशनगढ़ निवासी श्री अशोकजी पाटनी (आर.के.मार्बल वालों) की तरफ से धार्मिक परीक्षा में प्रत्येक वर्ग में, प्रथम पारितोषिक- 5100 रु., द्वितीय पारितोषिक-2500 रु. एवं तृतीय पारितोषिक -1100 रु. इस प्रकार कुल 52200 रु. की राशि छात्रों को बाँटी जाती है।

संस्था का भवन विकास

संस्था की शुरुआत टीनशेड से हुई थी किन्तु आज अनेक विशाल भवन बने हुये हैं।

संस्था में बने हुए नूतनतम भोजनालय निर्माण में श्री सुभाषसा केशरसा साहुजी जालना वालों एवं श्री अशोक पाटनी (आर.के.मार्बल) किशनगढ़ वालों का बहुत बड़ा योगदान प्राप्त हुआ है। छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास के लिए प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञों की व्यवस्था की गई है। बीमार छात्रों की व्यवस्था के लिए एक शिक्षक एवं दो छात्र सदैव तैयार रहते हैं। डॉ. प्रेमचंदजी पाटणी एवं डॉ. सौ. सरला पाटणी बीमार छात्रों की चिकित्सा करते हैं।

चातुर्मास व्यवस्था

इस वर्ष इस गुरुकुल में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की परम शिष्याएँ आर्यिकारत्न श्री 105 अनंतमति माताजी एवं आदर्शमति माताजी 28 आर्यिकाओं के विशाल संघ के साथ विराजमान हैं। साथ ही 20 संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनें एवं प्रतिभा मंडल की 70 बहनें हैं। प्रतिभा मंडल की बहनों को संस्कृत का अध्यापन करने हेतु प्रो. पं. रतनचंद्र जी जैन भोपाल से आये हुए हैं। पूरे संघ की चातुर्मास व्यवस्था सचिव श्री पन्नालालजी गंगवाल एवं संयोजक श्री डॉ. प्रेमचंद्रजी पाटणी के नेतृत्व में एलोरा-सज्जनपुर के सहकार्यसे सँभाली जा रही है। प्रतिविवार को माताजी द्वय का मांगलिक उद्बोधन भी होता है। इस चातुर्मास की सर्वांगीण व्यवस्था हेतु श्री वर्धमानजी पांडे, श्री गोस्वामी श्री, अशोक काला, श्री अनिलजी काला, श्री गौतमचंद्रजी ठोले, श्री राजकुमारजी पांडे, श्री मनोरकरजी, श्री महेन्द्रकरजी कोपरगाँव पंचायत, कन्नड पंचायत वर्तमान कार्यकारिणी इत्यादि सभी का अनमोल सहकार्य प्राप्त हो रहा है।



पू. आचार्यश्री से चर्चा करते हुए सर्व श्री हुकमचंद जी, तनसुखलाल जी, डॉ. प्रेमचंद्र जी, पन्नालाल जी गंगवाल, देवकुमार जी काहेड

क्रीडा क्षेत्र/भाषण स्पर्धा

इस विद्यालय के छात्रों ने पढ़ाई के अलावा क्रीडा क्षेत्र में भी अपना एवं संस्था का नाम जिला स्तर एवं राज्यस्तर तक पहुँचाया है। हॉकी, हैंडबॉल, फुटबाल, वॉलीबाल, वेटलिफ्टिंग, इत्यादि में भी छात्रों ने राज्यस्तर तक नाम कमाया है। भाषण स्पर्धा में छात्रों ने जिलास्तर एवं राज्यस्तर तक अपना और स्कूल का नाम किया है। इस प्रकार यह संस्था ग्रामीण विभाग में होने के बावजूद शहरी विभाग की बराबरी में खड़ी है।

गुरुदेव समंतभद्र विद्या मंदिर, एलोरा

घर-घर की दीवारों पर

अशोक शर्मा

जिन्हें देखकर जागे सोए डर लगता है रह रहकर उन चेहरों को टाँग लिया है घर घर की दीवारों पर।

आग उगलते चेहरों ने, कुछ चेहरों को नोच लिया हर अपना बेगाना ही है, हर अपने ने सोच लिया। हाथों में हथगोले लेकर चेहरे डोल रहे हैं आतंकित भाषा में अपने अंतर खोल रहे हैं ॥

जिन्हें सोचकर भूले बिसरे डर लगता है रह-रहकर ऐसे लोग चढ़े बैठे हैं सोच-समझ की मीनारों पर।

अपने से ज्यादा लोगों का दर्द नहीं पड़ता दिखलाई पर पीड़ा में अब औरों की पीठ नहीं जाती सहलाई मेरा ही घर रहे सुरक्षित आग भले लग जाए शहर में अमरबेल सी चाह हमारी फूल रही हर एक नजर में

नदी किनारे प्यासमरों का शापित जीवन लख लखकर कोई चलना नहीं चाहता अब जलते अंगारों पर।

बीते लोग अगर अच्छे थे फिर क्यों अच्छा नहीं उगा पथ भूलों को डगर दिखाता, ऐसा पंथी नहीं जगा इतिहासों का गौरव सीमित पढ़ने लिखने तक ढोल सुहावन लगें सभी को दूर दूर दिखने तक

जिनको केवल पढ़ने तक ही रटती है पीढ़ी रह रहकर ऐसे लोग जगाए जाते अब केवल त्यौहारों पर

अभ्युदय निवास, 36-बी, मैत्री विहार,
सुफेला भिलाई(दुर्ग)- 490023

मुनि विश्वकीर्ति सागर जी महाराज की समाधियात्रा सम्पन्न

बीना - परम पूज्य मुनि श्री विश्वकीर्ति सागर जी महाराज प.पू. जैनाचार्य श्री विरागसागर महाराज जी के परम तपस्वी शिष्यों में से एक थे, ऐसे मुनिश्री का वर्षायोग आ. श्री की आज्ञा से बड़ी बजरिया, बीना में मुनि श्री विश्वपूज्य सागर जी ऐलक श्री विनम्रसागर जी व क्षु. श्री विदेह सागर जी महाराज के साथ हो रहा था।

भाद्र माह में मुनिश्री ने उपवास प्रारंभ किये। प्रथम उपवास में ही अस्वस्थ हो गये, लेकिन मुनिश्री उपवास करते ही गये। 26 दिन तक निरन्तर साधना के बाद प्रशस्त वातावरण में व सभी महाराजों के सान्निध्य में उत्तम त्याग के दिन 18 सितम्बर, 2002 बुधवार को सुबह 10.40 पर विनश्वर देह का त्याग कर अविनश्वर पद को प्राप्त करने के लिए प्रयाण कर दिया।

अध्यक्ष, श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर बड़ी बजरिया बीना

‘जैनधर्म और दर्शन’

अणु में विराट् की खोज

पं. निहालचंद जैन, बीना

जबलपुर प्रवास (27 जन. 97) में पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के परम शिष्य मुनिद्वय श्री प्रमाणसागर जी व श्री समतासागर जी के दर्शन लाभ का पाँचवाँ सुअवसर मिला, जिनकी पारदर्शी आँखों में ‘विद्वानों’ के प्रति वात्सल्य भाव झलकते हुए देखा। शुभाशीष के रूप में मुनि श्री प्रमाण सागर जी ने “जैनधर्म और दर्शन” तथा मुनि श्री समतासागर जी ने “सागर बूँद समाय”- (आचार्य विद्यासागर के अनमोल सूक्त-वचनों का संग्रह) तथा ‘भक्तामर स्तोत्र का दोहानुवाद’ (दोनों पुस्तकों के कृतिकार मुनि समता सागर जी) भेंट स्वरूप दीं। समीक्षा लिखने के लिए प्रेरणा और अशीर्वाद भी दिया।

विवेच्य कृति “जैनधर्म और दर्शन” (मुनि श्री प्रमाण सागर) का बहुरंगी आवरण पृष्ठ ‘अनेकान्त’ के हार्द को मुखरित कर रहा है। प्रकाशक- राजपाल एण्ड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ 300 लगभग, मूल्य 95/-रु. संस्करण-1996

मुनि प्रमाणसागर जी जितने उच्च कोटि के विद्वान हैं, उससे कहीं ज्यादा सरल/सहज हैं। वहाँ विद्वत्ता का लेशमात्र दिखावा नहीं। अन्तर्मन को भाने वाली उनकी अप्रतिम प्रवचनशैली, जैसे ज्ञान का अगाध-सागर अपनी उत्ताल तरंगों में तरंगायित हो रहा हो या कहें कि निर्मल झरना प्रकृति की सुरम्य गोद से निकलकर विद्या के अगम सागर में समालीन होने के लिए आतुर हो।

कृति का अवलोकन करने पर लगा कि जैन इतिहास, दर्शन और धर्म की यह त्रिवेणी कितनी पावन है, कितनी मनभावन है।

मुनिश्री ने इस कृति का प्रणयन कर जैसे इसके प्रत्येक पृष्ठ पर अपने नाम की स्वयं सिद्धि अंकित कर दी हो। 98 मूल आर्ष ग्रन्थों का नवनीत अपनी स्वानुभूति की कलम से मात्र 300 पृष्ठों पर उतार कर ‘अणु में विराट्’ की खोज चरितार्थ कर ली है, जिसमें एक वाक्य भी अकारथ नहीं दिखा।

कृति का वैशिष्ट्य

(1) जैन इतिहास/धर्म/आचार और दर्शन सम्बन्धी कोई भी प्रमुख विषय छूट नहीं पाया। छोटे-छोटे विन्यास से प्रस्तुत कृति सरल/सुबोध/सर्वग्राही बन गई है।

(2) लेखक की अभिव्यक्ति - ‘गागर में सागर’ की उक्ति चरितार्थ कर रही है। नपे-तुले शब्दों में ‘विषय का प्रतिपादन जैसे संक्षिप्तीकरण कृतिकार की मूलभावना हो।

(3) भाषा में प्रवाह, काव्यात्मक सौन्दर्य, कसावट और रोचकता है। पाठक को अथ से इति तक कृतिकार की ज्ञान-प्रतिभा/प्रज्ञा का दर्शन इस कृति के माध्यम से मिलता रहता है। हिन्दी भाषा के साथ प्राकृत, संस्कृत का उपयोग तथा आंग्ल भाषा के सन्दर्भ/टिप्पणों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक श्रेणी (ISBN-

81-7483-007-3) में स्थापित कर दिया है।

(4) जैनदर्शन/धर्म की वैज्ञानिकता को कृतिकार ने मुखर किया है। विशेषतः अजीव द्रव्य के ‘पुद्गल’ के वर्णन में इसे वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लिखा।

(5) विविध दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त और आत्म तत्त्व को बहुत मौलिकता से व्याख्यापित किया है।

(6) जैसे कानून विशेषज्ञ उच्च न्यायालयों/सुप्रीम कोर्ट की नजीरें प्रस्तुत कर अपने कथनों को प्रामाणिक सिद्ध करता है उसी प्रकार प्रतिपाद्य विषय वस्तु को न केवल 98 जैन ग्रन्थों के सैकड़ों उद्धरणों से व्याख्यापित किया वरन जैन/जैनतर विद्वानों के 35 साहित्यिक ग्रन्थों, छह अंग्रेजी पुस्तकों और पाँच शोधपूर्ण जैन पत्रिकाओं में महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ खोजकर कृति को प्रामाणिक बना दिया है।

(7) प्रस्तुत कृति- कृतिकार की साहित्यिक अभिरुचि आगम के तलस्पर्शी ज्ञान और मौलिक चिन्तन का एक ठोस दस्तावेज है।

(8) एक सच्चे संत का जीवन केवल किताबी ज्ञान का शब्द-कोष नहीं होता, बल्कि संयम और तप की एक आलोकमयी दृष्टि उसके साथ सम्बद्ध होती है। एक आध्यात्मिक ऊर्जा उनके जीवन की तेजस्विता को मुखरित करती रहती है। मुनिश्री ने जो कुछ लिखा उसके पीछे उनके तप की एक दीर्घकालीन साधना है।

(9) मैं पूरा जोर देकर कहना चाहूँगा कि इस कृति का अंग्रेजी अनुवाद किया जाकर इसे जैनियों/जैनमंदिरों के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित किया जाना चाहिए, क्योंकि यह “All in one” जैन साइक्लोपीडिया है। विदेशों में इसे बड़े स्तर पर पहुँचाई जानी चाहिए तथा देश के समस्त विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भेजी जानी चाहिए।

(10) जैनधर्म/दर्शन के प्रारम्भिक ज्ञान से अपरिचित भी इस कृति को मनोयोगपूर्वक पढ़ेगा तथा अपनी आस्था को एक नई दिशा/आयाम देगा।

(11) इस कृति में प्रो. महेन्द्रकुमार जी का “जैनदर्शन”, पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का “जैनधर्म”, आ. समन्तभद्र स्वामी की आप्त मीमांसा/रत्नकरण्डश्रावकाचार, आ. कुन्दकुन्द देव का समयसार, आचार्य विद्यानंद जी की अष्ट सहस्री के साथ-साथ गोमट्टसार, भगवती आराधना, मूलाचार आदि जैसे महान ग्रन्थों की झलक एक साथ प्राप्त हो रही है।

(12) संत कृतिकार की विनम्रता देखिये कि अपने पूज्य गुरुवर आ. विद्यासागर जी को यह कृति समर्पित करते हुए- ‘त्वदीय वस्तु तुभ्यमेव समर्पये’ कहकर कर्तृत्व-पने के मिथ्या

बोझ को अलग रख देते हैं और न केवल कृति वरन् कृतिकार के स्वरूप को गढ़ने में गुरु की असीम कृपा का अनुग्रह मान रहे हैं। एकलव्य-सा यह महान शिष्य अपने गुरुवर क लिए 'अकिञ्चन' बन गया।

कृति में प्रतिपाद्य विषय

(1) जैन इतिहास की प्रस्तुति में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को वैदिक साहित्य (ऋग्वेद) बौद्धदर्शन, हिन्दू पुराणों तथा मोहनजोदड़ो के पुरातात्विक प्रमाणों आदि के द्वारा जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक के रूप में सिद्ध किया है और तीर्थंकर महावीर के साथ भगवान् नेमिनाथ व पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध किया। भगवान् महावीर के बाद श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव बताते हुए दिगम्बरत्व की प्राचीनता पर प्रकाश डाला है।

(2) सात तत्त्वों के विवेचन के साथ द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता और गुणपर्याय का विवेचन नय आगम के आलोक में प्रस्तुत किया गया। जीव (आत्मा) की वैज्ञानिकता को दर्शाने के लिए अनेक वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत किए।

अजीव तत्त्व में पुद्गल द्रव्य की वैज्ञानिकता को स्पष्ट किया साथ ही यदि धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य की वैज्ञानिक आवधारणाओं का भी समावेश कर लिया जाता तो शोधार्थियों को एक गाइड लाईन मिल जाती।

(3) बंध तत्त्व के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त जैसे दुरूह विषय का विवेचन अत्यन्त रोचक शैली में मात्र 35 पृष्ठों में समाहित कर गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), धवला पुस्तक और सर्वार्थसिद्धि जैसे महान ग्रन्थों का पराग प्रस्तुत कर दिया। आयु कर्मबंध का नियम सोदाहरण और कर्मों की 10 अवस्थाओं का प्रस्तुतीकरण द्रष्टव्य है।

(4) मोक्षमार्ग के साधनभूत तीन कारण-सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अर्थग्राही विवेचन है, वहीं पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि सम्यक् चारित्र का वर्णन एक ही पैरा में क्यों समाप्त कर दिया गया। ऐसा नहीं है। जैनाचार और मुनि आचार (श्रमणाचार) के अंतर्गत लगभग 37 पृष्ठों में 'सम्यक्चारित्र का ही विवेचन किया गया है।

(5) आत्म विकास के क्रमोन्नत सोपान के रूप में गुणस्थानों का इतना सर्वग्राही परन्तु संक्षिप्त विवेचन पहली बार पढ़ा है। इसमें मुनिश्री के तलस्पर्शी स्वाध्याय की ही विशिष्टता है, जो विषय को बोधगम्य बनाकर इसे आत्मोत्थान का दिग्दर्शक कह दिया। गुणस्थानों के आरोह/अवरोह का चार्ट कमाल का है।

(6) अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे विस्तृत दर्शन को मात्र 13-14 पृष्ठों में निबद्ध कर देना मुनिश्री के गहन अध्ययन का सुफल है।

विस्तार से बोलना और लिखना ज्यादा आसान है परन्तु 100 पृष्ठ की विषय वस्तु को 10 पृष्ठ में व्याख्यापित कर देना श्रमसाध्य और प्रतिभा की बात है। कृति इस दृष्टि से अपनी विशिष्ट पहचान लिए है।

मुनिश्री की लेखन शैली के साथ प्रवचन शैली भी ऐसी ही मौलिक/रोचक/सुमधुर/श्रवणीय/संक्षिप्त होती है। सुनने के बाद और सुनने की ललाक आदि श्रोता में बनी रहे तो यह प्रवचन कला की श्रेष्ठ प्रस्तुति मानी जाती है। मुनिश्री इसमें सिद्धहस्त हैं। अधिक क्या कृति को पढ़कर ही इसका आनंद लिया जा सकता है जैसे सुस्वाद भोजन को मुख में ग्रहणकर ही उसके रसों का अनुभव किया जा सकता है।

ग्रन्थ समीक्षा

महायोगी महावीर

डॉ. विमला जैन
सहसम्पादिका- 'जैन महिलादर्श'

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक पूज्य मुनि श्री समता सागर जी हैं। प्रस्तुत कृति महावीर को जानने/समझने तथा महावीरत्व को अपने अंदर में जगाने की जिनकी भावना है उन पाठकों/श्रद्धालुओं के प्रबोधनार्थ प्रस्तुत की गई है। लेखक ने अतीत के आँगन में पूर्व पीठिका दी है, काल प्रवाह और तीर्थंकर के विषय में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में जैन जैनेतर सन्दर्भ तथा भगवान् महावीर के पूर्व जन्मों की शृंखला प्रस्तुत की है। तत्पश्चात् कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ, रानी त्रिशला के यहाँ गर्भावतार तथा सातिशय पुण्य शाली तीर्थंकर वर्द्धमान के जन्मकल्याणकोत्सव की परिचर्चा है। कुमार काल के बाद धर्म चक्रवर्ती और उपसर्गजयी मुनि महावीर के चारित्रचक्रवर्ती स्वरूप की चर्चा है। कैवल्य की प्राप्ति, समवशरण तथा 66 दिन बाद दिव्य ध्वनि प्रकट होने की विवेचना है। कार्तिक कृष्ण अमावस्या की पावन प्रत्यूष वेला में पावापुर के पावासरोवर के पास भगवान् महावीर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते हैं। उसके बाद की विशेष ज्ञातव्य बातों पर भी लेखक ने समीचीन प्रकाश डाला है।

प्रभु महावीर की प्रभुता का प्रभाव तथा उनके सिद्धान्तों

की संक्षिप्त विवेचना है। अतिशय कारी प्रतिभा की चर्चा में लेखक ने श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र की विशेषता बताई है। अन्त में देशी-विदेशी मनीषियों के विचार दिये गये हैं। भगवान् महावीर के विषय में ज्ञातव्य बातें बताकर पाठकों का ज्ञानवर्धन किया है। लेखक ने "महायोगी महावीर" की लघु पुस्तक में वे सभी तथ्य समन्वित किये हैं जो एक सामान्य पाठक की जिज्ञासा को शान्त कर सकते हैं। जीवनी रूप में पाठक पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर ही छोड़ता है। भाषा सरल सुबोध तथा प्रवाहपूर्ण है। पुस्तक का मुख पृष्ठ-नंदावर्त महल से निकल कर कुमार वर्द्धमान को राजसी वेश-भूषा में शान्ति की खोज में जाते हुए दिखाया है। नीचे वृक्ष तले शिला खण्ड पर नग्न वीतरागी मुद्रा ध्यानस्थ है। चित्र महायोगी की पूरी कहानी कह देता है और पाठक उस मोक्ष पुरुषार्थी की कहानी में तल्लीन हो जाता है।

लेखक अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। पाठक की आत्मीयता के साथ/समीक्षात्मक दृष्टि से पुस्तक बहुआयामी लक्ष्य के साथ सम्पूर्ण है। मानवीयता से ओत-प्रोत हर व्यक्ति को पठनीय, चिन्तनीय तथा संग्रहणीय है।

मधुमेह का प्राकृतिक एवं अहिंसात्मक उपचार

डॉ. रेखा जैन

डायबिटीज एक आम रोग है। यह दुनिया के हर हिस्से में पाया जाता है। विचारणीय है कि इनमें से सिर्फ 50% को ही अपने भीतर विद्यमान रोग की जानकारी है। शेष 50% में रोग भीतर-ही-भीतर धीमे-धीमे बढ़ रहा है, लोग उससे अपरिचित हैं। यह रोग हर आर्थिक वर्ग के लोगों में पाया जाता है। गरीब इससे मुक्त नहीं हैं। लेकिन अभिजात वर्ग में इसकी संख्या अधिक है, गाँवों की तुलना में शहरी लोग अधिक तादाद में इस रोग से पीड़ित हैं।

डायबिटीज है क्या?

डायबिटीज शरीर की इस क्रिया प्रणाली का रोग है। इससे शरीर के भीतर शर्करा की मात्रा जरूरत से ज्यादा हो जाती है और शरीर इसे इस्तेमाल नहीं कर पाता। हम अपने खान-पान में बड़ी मात्रा में कार्बोहाइड्रेट लेते हैं। कार्बोहाइड्रेट आँतों में पचकर शुगर में बदल जाता है। यह शुगर ग्लूकोस होती है। ग्लूकोस आँतों से खून में पहुँचता है और खून में घुलकर धमनियों द्वारा शरीर के हर हिस्से में पहुँच जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के खून में ग्लूकोस हमेशा दौरा करता रहता है। हमारे शरीर की अंतस्त्राव प्रणाली इस बात का खास ध्यान रखती है कि खून में ग्लूकोस का स्तर सदा एक समान बना रहे। ग्लूकोस का स्तर सदा एक समान रखने का काम इंसुलिन नामक हार्मोन का है, जो उदर में पाई जाने वाली ग्रंथि अग्न्याशय (पैनक्रियाज) के खास कोशिकीय समूहों में बनता है। जैसे ही खून में ग्लूकोस बढ़ता है वह अग्न्याशय में इंसुलिन छोड़ देता है। इंसुलिन अपने असर से ग्लूकोस को शरीर की कोशिकाओं में भेज देता है। फिर भी खून में अतिरिक्त ग्लूकोस रह जाए तो इंसुलिन के प्रभाव में लीवर उसे अपने भीतर समेट कर ग्लाइकोजन में तबदील कर देता है। जरूरत के वक्त में संभाले रखता है। जब कभी हम इच्छाअनिच्छा से उपवास करते हैं और खून में ग्लूकोस की मात्रा घट जाती है तब ग्लाइकोजन दुबारा ग्लूकोस में बदलता है, हमारे काम आता है।

ग्लूकोस हमारे शरीर का ही ईंधन है जो हमारी जीवन अग्नि को प्रज्वलित रखता है। खून में मिलकर आए ग्लूकोस और आक्सीजन से ही शरीर की हर कोशिका अपना काम-काज चलाती है।

डायबिटीज की किस्में

डायबिटीज कई रूपों में होता है, जिन्हें मोटे तौर पर दो वर्गों में बाँट दिया गया है। पहला वर्ग प्रायमरी डायबिटीज कहा गया है। इसके भी दो रूप हैं।

टाइप-1- डायबिटीज इंसुलिन डिपेंडेंट डायबिटीज

(आई.डी.डी.) कहलाता है। यह प्रायः बचपन या किशोरावस्था में प्रकट होता है। इसमें अग्न्याशय इंसुलिन नहीं बना पाता और रोगी को जीवित रखने के लिए पूरी उम्र इंसुलिन के टीके लेने पड़ते हैं।

टाइप-2-डायबिटीज नान-इंसुलिन डिपेंडेंट डायबिटीज (एन.आई.डी.डी.) इसमें रोगी जीने के लिए इंसुलिन इंजेक्शन पर आश्रित नहीं होता। यह डायबिटीज चालीस वर्ष की उम्र के बाद शुरू होता है। इससे पीड़ित होने वाले ज्यादातर शरीर से भारी होते हैं। उनका शारीरिक मेहनत से ज्यादा वास्ता नहीं रहता। आई.डी.डी. की तुलना में डायबिटीज की यह किस्म कम उम्र रहती है। इसमें रोगी को सही नपे-तुले खानपान और जीवन शैली में सुधार लाने की आवश्यकता रहती है।

क्या आप जातने हैं इंसुलिन इंजेक्शन/दवा से तैयार होता है।

जंतु अग्न्याशय इंसुलिन का सबसे बड़ा स्रोत है। गाय-बैल और भैंसों के अग्न्याशय से बोवाइन इंसुलिन और सुअरों से पोर्सीन इंसुलिन प्राप्त की जाती है। जंतुओं के शरीर से प्राप्त इसका विशुद्धीकरण किया जाता है और इसे शीशियों में भरा जाता है जो रोगियों के काम आता है।

आदमी के जिस्म में बनने वाले इंसुलिन, बोवाइन इंसुलिन तथा पोर्सीन इंसुलिन की संरचना में यह समरूपता है कि प्रत्येक इंसुलिन 51 एमिनो-एसिड्स से बनी है। पर तीनों की बनावट में एक एमिनो एसिड का अंतर है। तो बोवाइन इंसुलिन की बनावट में तीन एमिनो एसिड का अंतर है। शायद इसलिए कुछ डायबिटीज व्यक्तियों को बोवाइन या पोर्सीन इंसुलिन माफिक नहीं आती। हालाँकि ज्यादातर का जिस्म दोनों में से कोई एक इंसुलिन अपना ही लेता है।

कुछ वर्षों से मानव इंसुलिन की हू बहू नकल भी बाजार में मिलने लगी है। यह इंसुलिन जीन-इंजीनियरी से तैयार की गई है और विशुद्ध रूप से शाकाहारी है। पर यह अभी बहुत महँगी है और सिर्फ उन्हीं रोगियों के लिए आवश्यक है, जिन्हें जंतु इंसुलिन माफिक नहीं आती है।

मधुमेह के कारण

मानसिक तनाव, संक्रमण, अग्न्याशय की रक्तवाहिनियों का संकरापन, अग्न्याशय की सूजन, अग्न्याशय का शल्यकर्म, अग्न्याशय में ट्यूमर आदि कारणों से अग्न्याशय की बीटा कोशिकाएँ इंसुलिन का उत्पादन कम कर देती हैं। पिट्यूटरी, एड्रिनल, थायराइड की अति क्रियाशीलता के कारण खून में सोमाटोट्रोपिक,

थायरोट्रोपिक हार्मोन इंसुलिन के प्रभाव को कम कर मधुमेह पैदा करते हैं। यकृत में पैदा होने वाला तथा पिट्यूटरी की अति क्रियाशीलता से इंसुलिनस एंजाइम, एंटागोनिट्स तथा एंटीबाइंडीज इंसुलिन के स्राव में असंतुलन पैदा करते हैं। इनके अतिरिक्त, 1. आनुवांशिक पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाला मधुमेह छोटी आयु में ही प्रारंभ हो जाता है, यह असाध्य एवं इंसुलिन डिपेंडेंट होता है। 2. मोटापा, 3. बैठे-ठाले श्रम विहीन व्यवसाय, 4. संक्रमण, 5. तले भुने तथा मीठे आहार अग्नाशय स्थित इंसुलिन पैदा करने वाली बीटा कोशिकाओं तथा यकृत को क्षतिग्रस्त कर मधुमेह पैदा करते हैं, 6. मानसिक चिंता, तनाव, क्रोध, प्रतिस्पर्द्धा से पिट्यूटरी थायरायड, एड्रिनल ग्रंथि के कार्य अस्त-व्यस्त होने से मधुमेह होता है, 7. अग्नाशय में सूजन, कैंसर तथा तन्तु वृद्धि फाइब्रोसिस, 8. अग्नाशय की धमनियों की कठोरता, 9. उम्र-70 साल के बाद मधुमेह होने की शिकायत कम पायी जाती है, प्रायः 40 वर्ष के बाद मधुमेह के लक्षण दिखते हैं, परन्तु जन्मजात अभिरुचि के कारण आनुवांशिक मधुमेह बचपन से ही प्रारंभ हो जाता है, 10. थायरायड की विकृति थायरायड टाक्सिकोसिस के कारण रक्त में शर्करा की वृद्धि को अग्नाशय नियंत्रित करने के प्रयत्न में क्षतिग्रस्त होने लगता है, फलतः स्थायी मधुमेह पैदा हो जाता है। इसकी कुछ अवस्थाओं में रक्त शर्करा नियंत्रित होती है परन्तु पेशाब में शर्करा की उपस्थिति होती है। 11. लिंग-स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। 12. एड्रिनल की अधिक क्रियाशीलता जैसे परीक्षा, खेल प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न अचानक भय तथा उत्तेजना के कारण, 13. मद्यपान एवं धूम्रपान, 14. स्नायविक दुर्बलता तथा कुर्शिंग सिण्ड्रोम आदि अनेक कारण हैं जिनसे अग्नाशय की बीटा कोशिकाएँ नष्ट होने लगती हैं। इंसुलिन के अभाव में कोशिकाएँ ग्लूकोस का उपयोग नहीं कर पाती हैं। रक्त शर्करा तथा मूत्र शर्करा बढ़ जाती है। रक्त में शर्करा के बढ़ने से अम्लक्षार संतुलन विक्षुब्ध हो जाता है। सोडियम तथा पोटेशियम का पुनः अवचूषण काफी कम हो जाता है और ऑस्मोटिक दबाव बढ़ जाता है।

मधुमेह का दुष्प्रभाव

मधुमेह के दुष्प्रभाव से रक्त में शर्करा अधिक होने से हाइपरग्लाइसेमिक मूर्च्छा तथा कम होने से हाइपोग्लाइसेमिक मूर्च्छा, साँस फूलना, वमन की इच्छा, स्टेफ्लोकोकस तथा टी.बी. कीटाणुओं का संक्रमण, पायरिया आर्टिस्क्लरोसिस, रक्तवाहिनियों के रोग, आँखों में मोतियाबिंद, कम तथा विकृत दिखना, रेटीनोवाइटिस, ऑपटिक न्युराइटिस, दृष्टि नाड़ी शोथ, मस्कलर एट्रोफी, ऑस्टियोपोरोसिस, ब्रॉकाइटिस, हाइपो या एक्लोर हाइड्रिया, यकृत वृद्धि, सिरोंसिस, ब्लोमेरूलोस्क्लेरोसिस, एल्युमिन यूरिया, बोरासियमस बुलिमिया, सिरदर्द, विक्षुब्ध नींद, क्रेन्द्रीय स्नायु संस्थान के दोष, विटामिन बी 6 का फॉस्फोरिलेशन कम होने से उत्पन्न स्क्लेरोसिस तथा कैल्सिनोसिस, वृद्ध मधुमेही रोगियों में न्यूमोनिया, स्नायविक दोष, न्यूराइटिस, पॉली न्यूराइटिस, पैर तथा पैर के अंगूठे में सूजन व दर्द, घाव, गर्भावस्था के बाद गर्भस्थ शिशु की मृत्यु, हृदय रोग का दौरा, उच्च रक्तचाप, गुर्दे तथा यकृत की

खराबी, तंत्रिका संस्थान की अनेक विकृति, नर्पुंसकता, त्वच विशेषकर जननेन्द्रिय का सम्पर्क पेशाब से होने से थ्रश (मोनिलिया) संक्रमण, खुजली, घाव, गर्भवती मधुमेही महिलाओं में भ्रूण का आकार तथा जन्मजात शिशु के आकार तथा भार में वृद्धि, गठिया, संधिवात आदि अनेक विकृतियाँ तथा रोग होते हैं

मधुमेह का अहिंसात्मक एवं प्राकृतिक उपचार

मधुमेह के विशेष उपचार-

- धूप में तेल मालिश 15 से 25 मिनट।
- गीली चादर लपेट, Water massage
- करेले का रस रोज एक-एक गिलास दो बार।
- मैथी का पानी एक गिलास।
- खट्टे फल ज्यादा लेना जैसे-मौसमी, संतरा, अनार, आँवला आदि।

इसके अतिरिक्त-

1. सप्ताह में एक दिन गुनगुने जल का एनिमा देते हैं।
2. 15-20 मिनट का प्रतिदिन ठंडा कटि स्नान।
3. पेट तथा पीठ की मालिश करके गर्म ठंडा सेंक देकर मिट्टी की ठंडी पट्टी देते हैं।
4. अग्न्याशय तथा पीठ का गरम ठण्डा सेंक देकर आधा घण्टे मिट्टी की पट्टी पेट पर बायीं तरफ अग्न्याशय को ढकते हुए दें। इससे शरीर में आक्सीजन का उपयोग बढ़ जाता है साथ ही कार्बोहाइड्रेट का आक्सीकरण एवं चपापचय क्रिया भी उन्नत होती है।
5. पानी के अन्दर शरीर की मालिश तथा उसके बाद घर्षण स्नान देने से लाभ होता है।
6. सप्ताह में दो दिन शरीर को गीली चादर लपेट देते हैं।
7. नींद की कमी में रात को गर्म पाद स्नान देते हैं।
8. नीम के पानी में तौलिया भिगोकर स्पंज स्नान देकर घर्षण स्नान देने से त्वचा की शुष्कता दूर होकर लचकता आती है।
9. रात्रि में सोने से पहले तथा खाने के 3 घंटे बाद पेट पर ठंडी पट्टी लपेट देते हैं।
10. पूरे शरीर पर मिट्टी स्नान देने से लाभ होता है।
11. शरीर की चयापचय शक्ति बढ़ाने के लिए सम्पूर्ण वाष्प स्नान भी देते हैं।
12. प्रतिदिन 3-5 कि.मी. (सामर्थ्यानुसार) टहलना।
13. जलाहार हफ्ते में कम-से-कम 3 दिन, बीच-बीच में रसाहार करें।

यौगिक क्रियाएँ एवं प्राणायाम

1. इसमें सूर्य भेदी प्राणायाम सर्वाधिक उपयोगी होता है।
2. उड्डियान एवं मूलबंध।
3. आसन: निम्न आसन करने से लाभ होता है - जानुशिरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, कूर्मासन, उष्ट्रासन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रा, पद्मासन, उत्तानपादासन, धनुरासन, चक्रासन, पवनमुक्तासन, मेरूदण्डस्नायु विकासक, उदर-शक्ति विकासक, शलभासन, नौकासन, भुजंगासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, मयूरासन।

भाग्यादेय तीर्थ प्रा. वि.

सागर (म.प्र.)

अक्टूबर-नवम्बर 2002 जिनभाषित 35

समाचार

एटा में आध्यात्मिक ज्ञान शिक्षण शिविर सम्पन्न

परमपूज्य श्री 108 पुलक सागर जी महाराज के अशीर्वाद से बाल, किशोर, युवाओं, प्रौढ़ एवं महिलाओं में नैतिक सदाचार एवं जैनधर्म का बीजारोपण करने के लिए, जैनधर्म के प्रति आस्था जाग्रत करने के लिए, जिनवाणी के तत्त्वों को समझने के लिए एटा नगरी में अखिल भारतीय जैन महिला जागृति मंच के तत्त्वावधान में दिनांक 28/8/2002 से 3/9/2002 तक एक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसमें करीब 250 शिविरार्थियों ने भाग लिया।

ब. रीता जैन

दि. जैन समाज अजमेर द्वारा पारित प्रस्ताव

धर्मायतनों में 'वास्तु' व पुरातत्त्व के प्रसंगों को लेकर पिछले काफी समय से समाज में भ्रम-पूर्ण स्थिति के कारण जो मानसिक तनाव अनुभव किया गया है, इस पर सरल हृदय से निष्पक्ष चर्चा करने हेतु दिगम्बर जैन समाज, अजमेर के प्रबुद्ध व अनुभवी सदस्यों व पंचायतों के प्रमुख पदाधिकारियों की सभा का आयोजन दिनांक 17-9-02 को रात्रि में 8.00 बजे से अजमेर के प्रतिष्ठित व वरिष्ठ वकील श्रीमान् माणकचन्द्र जी जैन (गदिया) की अध्यक्षता में किया गया जिसमें खुली चर्चा के बाद निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किये गये।

1. दिगम्बर जैन समाज के जिनालयों व धर्मायतनों का निर्माण 'वास्तु-विधान' के अनुसार होना विधि सम्मत तो है ही साथ ही धर्मप्रभावना, सामाजिक शान्ति व प्रगति हेतु भी आवश्यक है। यदि पूर्व निर्मित ऐसे स्थलों में, इस विषय के विशेषज्ञों द्वारा कहीं कोई दोष अनुभव किया जाता है तो उसके निराकरण का संबंधित-पक्षों द्वारा अवश्य प्रयत्न होना ही चाहिए। सम्पूर्ण समाज के सामूहिक हित व शान्ति के उद्देश्य से किये गये प्रयासों को आलोचना का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए।

2. प्राचीन धर्मायतनों को जो, जीण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त हो रहे हों, अथवा समाज की वर्तमान अपरिहार्य आवश्यकताओं के अनुरूप कोई परिवर्तन आवश्यक महसूस किया गया हो, अथवा उनमें किसी भी प्रकार की निर्माण संबंधी त्रुटी समझ में आ रही हो, तो ऐसे भवनों की सुरक्षा, समाज की आवश्यकता पूर्ति व त्रुटी के निवारण के उद्देश्य से उसकी व्यवस्था कमेटी अथवा समाज, उसमें सुधार, परिवर्तन, परिवर्धन कराती हैं तो ऐसे प्रसंगों में, उभय पक्षों द्वारा, पुरातत्त्व सुरक्षा के नाम पर, अनावश्यक आलोचना व हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसी आलोचनाओं से समाज में अशान्ति का वातावरण बनता है। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि 'पुरातत्त्व' कोई स्थाई या सर्वकालिक परिभाषा नहीं है, क्योंकि जैन दर्शन प्रत्येक 'वस्तु' के स्वाभाविक परिवर्तन को स्वीकार करता है।

3. दि. जैन समाज के किसी भी घटक को धर्मायतनों की प्रभावना, सुरक्षा व उन्नति के उद्देश्य से कराये जाने वाले परिवर्तन/परिवर्धन में असहमति का कोई कारण बनता हो तो, ऐसे मामलों में संबंधित पक्ष के साथ बैठकर सौहार्द्र पूर्ण चर्चा करके समाधान लेना चाहिए। ऐसे प्रसंगों को सार्वजनिक व सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा नहीं उछाला जाना चाहिए। क्योंकि इससे न केवल आपस में वैमनस्य बढ़ता है, वरन् अन्य समाजों के सामने भी हमारी व धर्म की अप्रभावना होती है।

4. दि. जैन समाज के धर्मायतनों की देख-रेख जिस समाज, पंचायत व कमेटी के अधीन है, उसे उन धर्मायतनों की मरम्मत, सुरक्षा आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्धन करने का अधिकार तो होता है। कमेटी द्वारा संपादित कार्यों में असहमति की दशा में उभय पक्ष अपने सुझाव देने तक सीमित रहें, यही न्याय संगत है। प्रचार माध्यमों को ऐसे प्रसंग देकर, समाज का अहित नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही इनमें धन का जो अपव्यय होता है, उसे बचाकर उस धन को समाज की आवश्यकता व उन्नति में खर्च किया जावे, तो समाज एकजुट होकर आगे बढ़ सकता है।

5. सांगानेर, चाँदखेड़ी, बैनाड़ा व रेवासा आदि क्षेत्रों में हुए विकास कार्य हम सभी को खुली आँखों से स्पष्ट नजर आते हैं। इन सब के लिए हम इसके प्रेरणा स्रोत परम पूज्य मुनि 108 श्री सुधासागरजी साहब से प्राप्त आशीर्वाद के लिए सविनय उनके चरणों में नमोस्तु करते हुए, अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, साथ ही वहाँ की कमेटी व संबंधित पक्षों को बधाई देते हुए मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

यह खेद की बात है कि ऐसे उत्कृष्ट कार्यों की व्यर्थ आलोचना की जाती है जिससे धर्म क्षेत्रों में कार्य करने वाले हतोत्साहित होते हैं। जिसकी क्षति अंततोगत्वा समाज को भुगतनी पड़ती है।

हमारी पुरा संस्कृति के मन्दिर आदि आज भी सार-समाल के अभाव में उत्तरी व दक्षिण भारत के जंगलों में बिखरे पड़े हैं। हमारे धर्म, संस्कृति और इतिहास के विषय में स्कूली कक्षा पुस्तकों में गलत चित्रण किया हुआ है।

हमारे मन्दिर अन्य समाजों के कब्जे में हैं, कई जगह झगड़े चल रहे हैं। राजनैतिक सुविधाओं में भी हमारा समाज पिछड़ा हुआ है। यह संस्कृति रक्षा मंच कुछ क्षेत्रों का विकास अपने हाथ में ले और वहाँ अपनी शक्ति लगाये, तो यह समाज के लिए सकारात्मक उपलब्धि होगी और वे धन्यवाद के पात्र होंगे। इस मंच द्वारा "पुरातत्त्व के विध्वंस की कहानी" नामक पुस्तक के तथ्यों को असत्य व भ्रामक मानते हुए हम सर्व सम्मति से उसे नकारा करते हैं।

प्रस्तावक

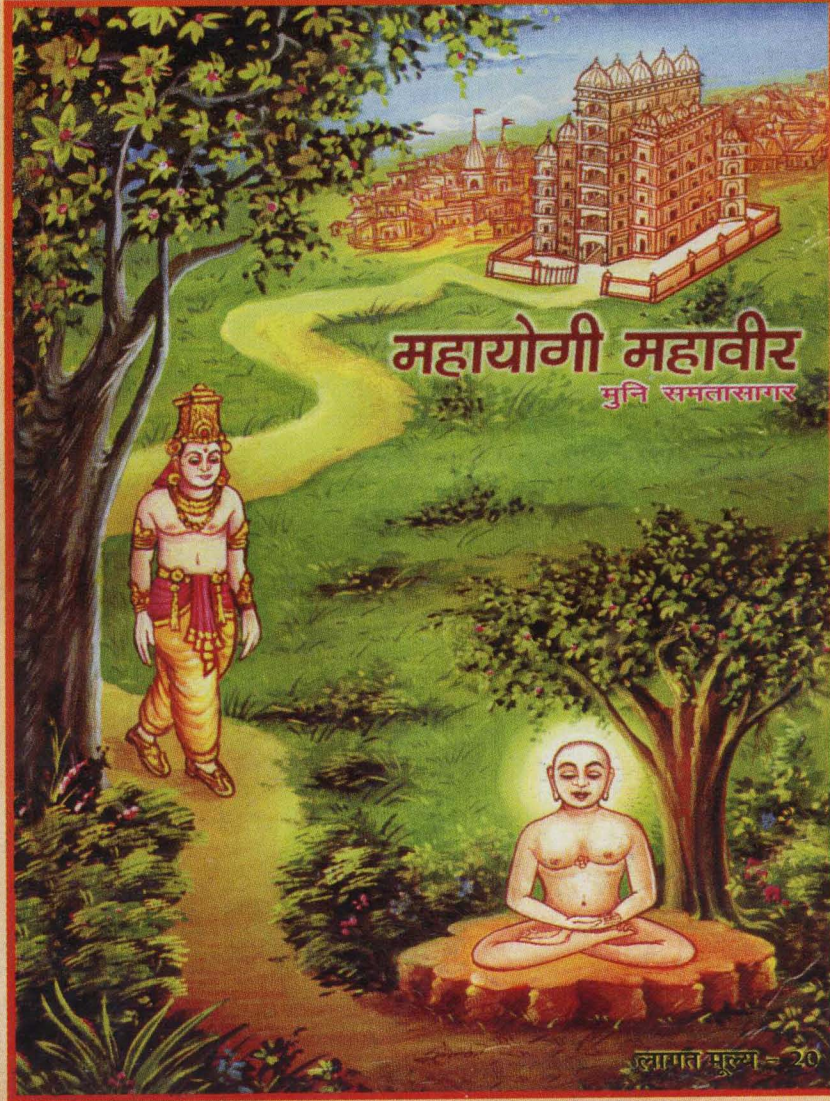
भागचन्द्र गदिया, ज्ञानचन्द्र दनगसिया, माणकचन्द्र जैन एडवोकेट



एलोरा जैन गुहा क्र. 32 में नंदीश्वर मंदिर के बाहरी भाग में मानस्तंभ तथा अन्य कलात्मक दृश्य

भगवान महावीर स्वामी के जीवन-दर्शन पर आधारित
परम पूज्य 108 मुनि श्री समता सागर जी
की

लोकप्रिय कृति



सौजन्य एवं प्रति स्थान :-

- जिनेन्द्र कुमार देवेन्द्र कुमार जैन
पंसारी शामयाना, छत्रसालपुरा, ललितपुर फोन :- 74235
- संजीव कुमार राजीवकुमार जैन
लकी बुक डिपो, घंटाघर के पास, ललितपुर फोन :- 73790

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक : रतनलाल बैनाड़ा द्वारा एकलव्य ऑफसेट सहकारी मुद्रणालय संस्था मर्यादित, जोन-1, महाराणा प्रताप नगर,
भोपाल (म.प्र.) से मुद्रित एवं सर्वोदय जैन विद्यापीठ, 205, प्रोफेसर कालोनी, आगरा-282002 (उ.प्र.) से प्रकाशित।